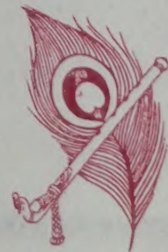


हिन्दी पद्य



गीता



जो शास्त्र गीता पुण्यमय का पठन करता सर्वदा।
वह विष्णुपद है प्राप्त करता शोक भय गत हो सदा॥ १॥
अध्यन गीता और प्राणायम से जो युक्त है।
वह पूर्व जन्म कुपाप से नर सर्वथा ही मुक्त है॥ २॥
ज्यों स्वच्छ जल का स्नान करता देह कोमलहीन है।
त्यों पाठ गीता स्नान करता विश्व–मल को क्षीण है॥ ३॥
है मनुज का कर्त्तव्य गीता गान करना अति महा।
भगवान ने निजकमल–मुख से है स्वयं जिसको कहा॥ ४॥
यह विष्णु मुख से प्रगट गीता है सुधा सम मान लो।
गङ्गा उदक गीता पिये नर मुक्त होता मान लो॥ ५॥
सब शास्त्र गो हैं कृष्ण दोग्धा वत्स हैं अर्जुन तथा।
विद्वान भोक्ता दुग्ध के जो अमृत मय हैं सर्वदा॥ ६॥

श्री परमात्मसे नम:

॥ प्रथम अध्याय ॥

धृतराष्ट्र बोले

शुभ धर्म–थल कुरु क्षेत्र में संग्राम हित समवेत हो।
मेरे सुतों ने, पान्डवों ने, क्या किया संजय कहो॥ १॥

संजय बोले –

यों ब्यूह रचना युक्त पान्डव की अनी को देखकर।
कहने लगा गुरु से सुयोधन इस तरह को जोड़कर॥ २॥
तब घृष्टद्युम्न सुशिष्य द्वारा, की गई है जो खड़ी।
गुरुदेव देखो पान्डवों की, यह अनी शोभा जड़ी॥ ३॥
इस नव अनी में वीर कितने, भीम पार्थ समान हैं।
सात्यकि विराट महारथी, राजा द्रुपद श्रीमान हैं॥ ४॥

भट चेकितान सुधृष्टकेतु, महान काशी राज हैं।
पुरुजित तथा श्री कुन्ति भोज व शैब्य नरपतिराज हैं ॥ ५ ॥
नृप युधामन्यु द्रुपद–सुता के पाँच सुत रण धीर हैं।
रण केशरी हैं उत्तमौजा, उत्तरापति वीर हैं ॥ ६ ॥
द्विजवर हमारे पक्ष में, जो–जो प्रधान विशेष हैं।
कहता हूँ उनका नाम मैं, सुनलो, सकल समरोश हैं ॥ ७ ॥
स्वयमेव आप विकर्ण कृप और अश्वथामा हैं खडे।
विजयी जयद्रथ सोम–सुत, हैं कर्ण भष्म बली बड़े ॥ ८ ॥
और भी हैं वीर अगणित, शक्ति में, अतिशय प्रबलजो।
प्राण की परवाह जिनको है नहीं रण कुशल जो ॥ ९ ॥
श्री पितामह से सुरक्षित है हमारी सैन्य दुर्जय।
उधर रक्षित भीम द्वारा पान्डवों की अनी निर्भय ॥ १० ॥
निज–निज जगह से आप सब, अपने हृदय में यह धरें।
सब और से बस पूज्य दादा की सदा रक्षा करें ॥ ११ ॥
यों द्रोण से कहते हुए सुन कर सुयोधन के वचन।
भीष्म ने की शंख ध्वनि ज्यों उच्च स्वर में सिंह गर्जन ॥ १२ ॥
फिर बाद उसके शंख, ढोल, मृदंग वाद्य बजे कई।
तब हो गई चारों दिशायें गगन तक यों ध्वनिमयी ॥ १३ ॥
फिर श्वेत घोड़ों युक्त रथ पर, पार्थ–मधुसूदन चढ़े।
कर शंख रव सुन्दर अलौकिक क्षेत्र में आगे बढ़े ॥ १४ ॥
ले पांचजन्य सुशंख माधव श्याम ने नादित किया।
और देवदत्त व पौन्ड्र अर्जुन–भीम ने वादित किया ॥ १५ ॥
तब धर्मराम अनंत विजयम् शंख को कर में लिया।
मणि पुष्प नकुल सुघोष को सहदेव ने घोषित किया ॥ १६ ॥
युयुधान काशीराज नरपति, धृष्टद्युम्न महाबली।
वह भट विराट तथा शिखंडी धनुष जिनकी थी भली ॥ १७ ॥

राजा द्रुपद अभिमन्यु एवम्, द्रोपदी के सुत बली।
ले शङ्ख निज–निज हाथ में सबने निकाली ध्वनि भली॥ १८॥
ज्यों–ज्यों भयंकर शंङ्ख रव, रण–क्षेत्र में बढ़ने लगा।
त्यों–त्यों कलेजा कौरवों का, भीति से कढ़ने लगा॥ १९॥
फिर युद्ध हित लचा कौरवों को, शस्त्र से सुज्जित खड़े।
वर वीर अर्जुन तमक कर अपनी जगह से उठ पड़े॥ २०॥
भगवान से कहने लगे हे नाथ! ऐसा कीजिए।
अब मध्य में दोनों दलों के, रथ खड़ा कर दीजिये॥ २१॥
उस पक्ष में हैं कौन भट, यह देखना है अब मुझे।
किससे करूं संग्राम मैं यह सोचना भी है मुझे॥ २२॥
अति दुष्ट कौरव पक्ष में नृप कौन आये हैं यहाँ।
देखूँ सुयोधन का खड़ा है कौन शुभ चिन्तक कहाँ॥ २३॥

संजय बोले –

भगवान ने अर्जुन विनय को ध्यानपूर्वक सुन लिया।
झट मध्य में दोनों दलों के विशद रथ को कर दिया॥ २४॥
फिर कृष्ण बोले पार्थ! हे कौरव अनी को देख लो।
हैं भीष्म–द्रोण खड़े हुये सम्मुख तुम्हारे देख लो॥ २५॥
तब पार्थ ने देखा चतुर्दिक थे पिता भ्राता खड़े।
मामा पितामह पुत्र औ आचार्य मित्र बड़े–बड़े॥ २६॥
फिर देखते ही सामने निज स्वजन परिजन को सकल।
श्री कृष्ण से कहने लगे कुन्ती–तनय होकर विकल॥ २७॥
हे कृष्ण निज परिवार को रणक्षेत्र में लख कर सुनो।
मम गात्र होता है शिथिल, मुख सूखता है अब सुनो॥ २८॥
है देह मेरी काँपती और चरण रुकता है नहीं।
है होरहा रोमांच तन में झूठ है केशव नहीं॥ २९॥

मन भ्रमित होता है तथा तन की त्वचा है जल रही।
हूँ खड़ा होने में विवश गांडीव कर से गिर रही॥ ३०॥
विपरीत लक्षण देखता हूँ कृष्ण इस संग्राम में।
कैसे स्वजन को मार कर कालिख लगाऊं नाम में॥ ३१॥
यह राज–सुख अथवा विजय अब चाहिये मुझको नहीं।
हे कृष्ण! वैभव–लोभ यह दिखालाइये मुझको नहीं॥ ३२॥
जिनके लिये मैं चाहता था, राजसुख जग धाम में।
निज प्राण की वे छोड़ आशा हैं खड़े संग्राम में॥ ३३॥
साला ससुर मामा पितामह पुत्र सम्बन्धी सभी।
आचार्य से निज युद्ध करना, क्या उचित है हार कभी॥ ३४॥
इस लोक क्या त्रिलोक का भी राज मिल जावे कहा।
वे मार ले मुझकी तदापि मैं मार सकता हूँ नहीं॥ ३५॥
हे कृष्ण! मुझको क्या मिलेगा कौरवों को मारकर।
मैं पाप भागी ही बनूगा दुष्ट की संहार कर॥ ३६॥
इस हेतु माधव बन्धुओं का अब उचित बध है नहीं।
कुछ मारकर इनको मुझे सुख प्राप्त होगा क्या कहीं॥ ३७॥
यद्यपि विपक्षी के हृदय पर लोभ वश अज्ञान है।
कुल–नाश बधु–विरोध पातक का न उसको ध्यान है॥ ३८॥
पर हे प्रभो! कुलनाश–अध को सब तरह से जानकार।
हम लिप्तहो फिर पाप में क्या पुण्य उसका मानकर॥ ३९॥
कुल धर्म होता नष्ट है बस वंश ही के नाश से।
है धर्म का विध्वंस होता अधम पाप विकास से॥ ४०॥
कुल नारियां है बिगड़ जाती पाप के परिणाम में।
तब वर्ण–शंङ्कर जन्म ले करता अंधेरा धाम में॥ ४१॥
हैं फिर कुलघ्नों को तथा कुल को नारक में डालते।
संकर पितर जन के सुकर्मों को निरन्तर घालते॥ ४२॥

उस वर्ण संकर–दोष से कुल–घातकी कुल धर्म का।
होता पराजय नित्य है चिर जाति धर्म सुकर्म का॥ ४३॥
कुल धर्म हीन मनुष्य का होता नरक में वास है।
ऐसा सुना है कृष्ण हे! मैंने, मुझे विश्वास है॥ ४४॥
पर शोक है, हम जान कर भी पाप करने के लिए।
तैयार हैं निज वंश का संहार करने के लिये॥ ४५॥
निःशस्त्र हम पर अगर कौरव शस्त्र की वर्षा करें।
शुभ प्रद हमारे हेतु हैं फिर भी सधीर क्षमा करें॥ ४६॥

इसके पश्चात् संजय ने धृतराष्ट्र से कहा – हे राजन्!

हो शोक से उद्विग्न अर्जुन श्याम से यह विनय कर।
बैठे विरत हो युद्ध से कुन्तीतनय गान्डीव घर॥ ४७॥

❀ इति श्री प्रथम अध्याय समाप्त ❀

॥ द्वितीय अध्याय॥

संजय ने राजा धृतराष्ट्र से कहा – हे राजन्!

लख नयन में आसू तथा करुणा–विवश विह्वल महा।
श्री कृष्ण ने तब शांतिमय यों बचन अर्जुन से कहा॥ १॥
इस विषमथल में पार्थ हे! क्यों लिप्त हो अज्ञान में।
यह है विनाशक स्वर्ग यश हो भूलते किस ध्यान में॥ २॥
दुर्बल बनो मत हे परंतप! और कायरता तजो।
तुम युद्ध हित तैयार हो सत्वर चलो आगे बढ़ो॥ ३॥

तब अर्जुन ने कहा –

कैसे चलाऊँ कृष्ण हे! हिंसक जो बाण विशेष हैं।
गुरु द्रोण अथवा भीष्म पर जो पूजनीय विशेष हैं॥ ४॥

भिक्षान्न भोजन है भला बध गुरुजनों के पाप से।
है तन जलाता रक्त–रंजित भोग अपने ताप से॥ ५॥
किसकी विजय होगी पराजय यह न मुझको ज्ञान है।
कौरव खड़े बध कर उन्हें जीऊँ न मेरा ध्यान है॥ ६॥
अघ मोह बस हूँ बुद्धि हित मेरी विनय पर कान दो।
तव शिष्य शरणाजतप्रभो, मैं हूँ उचित सद्ज्ञान दो॥ ७॥
हूँ भूमि वैभव प्राप्त कर भी वह उपाय न जानता।
हूँ शोक जिससे दूर मेरा हो सके मैं काँपता॥ ८॥

संजय धृतराष्ट्र से बोला – हे राजन्!

अज्ञान विजयी पार्थ ने फिर अन्त में हरि से कहा –
प्रभु लड़ सकूँगा, मैं नही रणक्षेत्र में, चुप हो रहा॥ ९॥
दोनों दलों के बीच में अति शोक से जलते हुये।
उस पार्थ से हरि ने कहा, राजन सुनो हँसते हुये॥ १०॥

श्री भगवान ने कहा – हे अर्जुन!

निश्शोक हितकर शोक अर्जुन! विज्ञ का यह ज्ञान है।
जीवन–मरण के शोक पर पंडित न धरता ध्यान है॥ ११॥
कारण कि आत्मा नित्य है हम जो यहाँ पर अभी।
पहले भी थे फिर भी रहेंगे हम न खोवेंगे कभी॥ १२॥
बचपन जवानी और जरा में बदलती है देह ज्यों।
त्यों देह–देह में आत्मा फिरती है फिर सन्देह क्यों॥ १३॥
क्षणिक यह सुख–दु:ख गर्मी–शीत का संयोग तन से।
चाहिये सहना इसे इस हेतु अर्जुन धीर मन से॥ १४॥
हे पार्थ! विषयों से न व्याकुल जो पुरुष होते कभी।
सुख–दु:ख सम हैं मानते वे मोक्ष पद पाते सभी॥ १५॥

है असत क्षण भंगुर तथा हे पार्थ! सत् ही नित्य है।
यह जानता है नर इसे जो ज्ञान का आदित्य है॥ १६॥
इस विश्व में जो सर्व व्यापी नित्य है मरता नहीं।
कोई कभी उस आत्मा का नाश कर सकता नहीं॥ १७॥
है नाशवान शरीर केवल जीव रहता है सदा।
इस हेतु अर्जुन तुम लड़ो संग्राम की सह आपदा॥ १८॥
यह आत्मा मारा न जाता, मारता भी है नहीं।
इस बात को समझते जो, पूर्ण पंडित है वहीं॥ १९॥
जीवन–मरण से मुक्त है, अक्षर तथा है सर्वदा।
हो जाय काया नाश पर है, आत्मा रहता सदा॥ २०॥
है नित्य, अज, अव्यय सदा जो आत्मा को मानते।
करते–कराते घात किस का वह नहीं जानते॥ २१॥
तज जीर्ण नूतन वस्त्र ज्यों जन पहनते हैं सर्वदा।
त्यों आत्मा तज जीर्ण नूतन देह धरता है सदा॥ २२॥
कट शस्त्र से जल अग्नि से यह आतमा सकता नहीं।
वायू सुखा सकती नहीं जल भी गला सकता नहीं॥ २३॥
क्यों की अशोष्य अछेद आत्मा भीगती–गलती नहीं।
व्यापक सनातन नित्य है सुस्थिर कभी चलती नहीं॥ २४॥
अव्यक्त और अचिन्त्य है यह आत्मा निष्पाप है।
यह जानकर अर्जुन सुनो तब व्यर्थ ही परिताप है॥ २५॥
यदि मृत्यु–जीवन आत्मा का मानते हो तुम कहीं।
तब भी तुम्हें है शोक करना योग्य हे अर्जुन नहीं॥ २६॥
जब जन्म है तब मृत्यु है जब मृत्यु है तब जन्म भी।
फिर शोक करना व्यर्थ है सकती न मिट भावी कभी॥ २७॥

जब जन्म पूर्व समस्त प्राणी मृत्यु के फिर बाद हों।
काया विहीन रहें सुनो तब मध्य की चिन्ता कहो॥ २८॥
यह आत्म तत्व गहन महा साश्चर्य कहता देवता।
कोई तथा कोई इसे साश्चर्य सुन नहिं जानता॥ २९॥
हे पार्थ! आत्मा नित्य है रहता सभी के देह में।
फिर शोक करना योग्य कब है प्राणियों के नहे में॥ ३०॥
है धर्म और कर्त्तव्य क्षत्री का यही कल्याण कर।
निर्भय बने, निज शत्रुओं को काट दे संग्राम कर॥ ३१॥
वह स्वर्ग–द्वार सदृश्य रण है प्राप्त अपने आप ही।
पाते इसे हैं पार्थ हे! क्षत्रिय सुभग श्री मान ही॥ ३२॥
यदि करोगे, नहीं तुम इस धर्म युत संग्राम को।
तो नष्ट कर निज धर्म यश को प्राप्त होंगे पाप को॥ ३३॥
इस निन्दनीय प्रसङ्ग को कहते फिरेंगे लोग जब।
फिर मृत्यु से भी अधिक निज निन्दा खलेगी पार्थ तब॥ ३४॥
''अर्जुन भगा डर युद्ध से'' ऐस कहेंगे लोग कल।
निन्दा करेंगे बन्धु–बान्धव तव उपासक जन सकल॥ ३५॥
और वे रिपुजन तुम्हारी शक्ति की निन्दा करेंगे।
व्यङ्ग वचनों से निरन्तर कान तब अर्जुन भरेंगे॥ ३६॥
इस हेतु अर्जुन युद्ध हित लो शस्त्र अपने हाथ में।
मर स्वर्ग 'औ' विजयी भये भूराज आये हाथ में॥ ३७॥
सुख–दुःख लाभालाभ को सम जय–पराजय मानकर।
यदि भोग की इच्छा नहीं फिर भी लड़ो शुभ जानकार॥ ३८॥
हे पार्थ! यह सब ज्ञान सुन लो योग द्वारा अब यहीं।
सुनकर जिसे तुम कर्म बन्धन में पडोंगे ही नहीं॥ ३९॥

जो कर्म है निष्काम करता वह सदा अविनाश है।
निष्काम साधन धर्म से कटता वृहद् भव–पाश है॥ ४०॥
बस एक ही है बुद्धि इस निष्काम पथ में जान लो।
अज्ञानियों में बुद्धि है होती अनेकों मान लो॥ ४१॥
जो वेद वादाशक्त वाणी को बना सुन्दर मधुर।
कहते कि कर्म प्रधान है, वह हैं, सही दुर्बुद्धि नर॥ ४२॥
जो चाहता फल–मुक्ति कर्मद स्वर्ग है संसार में।
सुख के लिये वह कर्म करता है फँसा अविचार में॥ ४३॥
जो चाहते ऐश्वर्य हैं, हैं भोग चिन्ता में कहीं।
है निश्चयात्मक बुद्धि उनके हृदय में कुछ भी नहीं॥ ४४॥
श्रुति त्रिगुण मय हे पार्थ है इस हेतु निर्गुणता करो।
तुम योग क्षेमिक द्वंद तजकर वृत्ति सत्विक को धरो॥ ४५॥
क्योंकि जलधि को प्राप्तकर ज्यों लघु जलाशय व्यर्थ है।
त्यों ब्रह्मरस को पा, न कोई और रस का अर्थ है॥ ४६॥
बस कर्म करना ही तुम्हारा विश्व में अधिकार है।
फल की न इच्छा तुम करो वह ब्रह्म को स्वीकार है॥ ४७॥
तुम करो कर्म संयोग अर्जुन फलविफल सम जानकर।
'समभाव' ही है श्रेष्ठ साधन चित्त में यह ठानकर॥ ४८॥
हे पार्थ कर्म सकाम अतिशय तुच्छ अथवा क्षीण है।
निष्काम साधक तुम बनो फल वासनामय हीन है॥ ४९॥
बस छोड़ देते हैं यही पर पाप पुन्य सुविज्ञ जन।
इस हेतु तुम निष्काम चेष्टा कर तजो अब कर्म बंधन॥ ५०॥
वर बुद्धि योगी कर्म ये उत्पन्न फल को त्याग कर।
पाते अमृतमय परम पद भव पाश से है भाग कर॥ ५१॥

जिस समय तव बुद्धि अर्जुन मोह सागर को तरेगी।
उस समय वैराग्य की महिमा तुम्हें सत्वर वरेगी॥ ५२॥
तब विविध विषयों की कथा सुन बुद्धि है चंचल अभी।
होगी तुम्हारी बुद्धि सुस्थिर योग पावोगे तभी॥ ५३॥

इस प्रकार भगवान श्री कृष्ण के उपदेश को सुनकर अर्जुन ने कहा –

थिर बुद्धि वाले पुरुष का लक्षण कहो है किस तरह।
वह बोलता चलता है कैसे बैठता है किस तरह॥ ५४॥

श्री कृष्ण ने उत्तर दिया :–

आत्म सुख से तुष्ट है जो कामना को छोड़कर।
बस है वही थिर बुद्धि वाला कर्म योगी नर प्रवर॥ ५५॥
थिर बुद्धि मुनि में क्रोध या भय राग है रहता नहीं।
दुख में दुखी सुख में सुखी हो वह कभी हँसता नहीं॥ ५६॥
शुभ में प्रसन्न तथा अशुभ में कभी रोता नहीं।
है बस उसी की बुद्धि सुस्थिर नेह वश होता नहीं॥ ५७॥
प्रज्ञ नर निज इन्द्रियों को है विषय से खींच लेता।
ज्यों कमठ है अङ्ग अपना पार्थ नित्य समेट लेता॥ ५८॥
विषय त्यागी विज्ञ में भी राग का है अंश होता।
किन्तु प्रभु को प्राप्त कर वह कालिमा भी प्रज्ञ धोता॥ ५९॥
उस मुक्ति की जो कामना हे पार्थ! करते लोग हैं।
वे किन्तु हो इन्द्रिय विवश यों भोगते जग भोग हैं॥ ६०॥
जो याद करते हैं मुझे होकर जितेन्द्रिय-संयमी।
अर्जुन उन्हीं की बुद्धि सुस्थिर है न फिर उनमें कभी॥ ६१॥
हे पार्थ! वश हो इन्द्रियों के जो विषय में लीन है।
वे विषय-चिन्ता में निरन्तर अचल बुद्धि विहीन है॥ ६२॥

मोह हे अर्जुन! सुमति को है सदा निर्मूल करता।
और सुमतिविहीन प्राणी श्रेय साधन से है गिरता॥ ६३॥
निज त्यागकर रागादि जिसने मन किया स्वाधीन है।
वह विश्व में भी लीन हो पाता सुशांति प्रवीन है॥ ६४॥
तब शांति मिलते ही उसे खलता न कोई क्लेश है।
फिर दूर रहता है न उससे प्रज्ञ जन का देश है॥ ६५॥
बुद्धि साधन के बिना दुर्लभ बिना ही ध्यान हा।
है ध्यानहीन न शांति मिलती शांति तिविर रहित सुख कहाँ॥ ६६॥
मन खींचता है बुद्धि को इन्द्रिय–विवश हो इस तरह।
लघु नाव को वायू जलधि मे खींचती है जिस तरह॥ ६७॥
इस हेतु जिसने इन्द्रियों को कर लया स्वाधीन है।
दृढ़ प्रज्ञता को प्राप्त कर वह ब्रह्म–रस में लीन है॥ ६८॥
हे पार्थ! जबजग की निशा तब योगियों का दिवस है।
जब योगियों की रात है तब भोगियों का दिवस है॥ ६९॥
चंचल न कर पाती उदधि को ज्यों उदधि में मिलनदी।
त्यों भोग चित्त अशांत कर सकता न योगीका कभी॥ ७०॥
ममता तथा मद कामनाओं से पुरुष जो हीन है।
वह शांति का पुतला तथा दृढ़ बुद्धिमान प्रवीन है॥ ७१॥
बस मोह हत हे पार्थ! ब्रह्मज्ञान निष्ठा है यही।
क्षण अन्त जो धारें इसे वे मुक्ति पा जाते सही॥ ७२॥

❁ इति द्वितीय अध्याय समाप्त ❁

॥ तृतीय अध्याय ॥

भगवान श्री कृष्णचन्द्र के उपदेश कथन को सुन अर्जुन ने कहा –

यदि हे प्रभो! यह ज्ञान ही है कर्म से गुरुतर कहीं।
तो अब भयंकर कर्म में मुझको फँसाओ तुम नहीं॥ १॥
सन्देह मय निज वचन से क्यों मोहते हो हे हरे!
निश्चय बचन कोई कहो कल्याण जो मेरा करे॥ २॥

तब श्री कृष्णचन्द्र कहने लगे – हे अर्जुन!

है बताया प्रथम ही दो रूप निष्ठा प्राणियों का।
कर्म योग सुयोगियों का ज्ञानयोग सुज्ञानियों का॥ ३॥
यह मार्ग हो कोई मगर है कर्म उसके साथ में।
तज कर्म मिलना है असम्भव सिद्धि अर्जुन हाथ में॥ ४॥
क्षणमात्र रह सकता न कोई पुरुष कर्म विहीन हो।
यह कर्म है अनिवार्य करना सृष्टि के आधीन हो॥ ५॥
है इस लिये जो मूर्ख नर कर्मेन्द्रियों को रोक कर।
करते विषय का ध्यान वे हैं जानलो तुम दम्भ चर॥ ६॥
मन में स्ववश कर इन्द्रियों को कर्म योग सुमार्ग पर।
कर्मेन्द्रियों से जो चले हे पार्थ! वह हैं श्रेष्ठ नर॥ ७॥
इस हेतु करना कर्म जग में प्राणियों का धर्म है।
तज कर्म को जीवन बिताना भी महान अधर्म है॥ ८॥
बस यज्ञ विरहित कर्म केवल पार्थ है संसार में।
तज कर उसे अर्जुन लगो तुम यज्ञ कर्मचार में॥ ९॥
रचकर प्रजा और यज्ञ को था ब्रह्म ने ऐसा कहा।
यह यज्ञ होगा युगयुगों तक प्राणि को सुखकर महा॥ १०॥

इस यज्ञ से तुम देव को और देवगण तुम लोग की।
उन्नति करे कर्तव्य है हो बुद्धि सुख कल्याण की॥ ११॥
फिर देव खुश हों यज्ञ से दें सुख अथाह अछोर है।
फल पा लगाये भोग बिन सुख भोगता जो चोर है॥ १२॥
मुख से बचे जो अन्न का भोजन करें वे मुक्त है।
जो देह हित की पाक रचते पाप से वे युक्त है॥ १३॥
प्राणी बना है अन्न से और अन्न जलधर धार से।
है यज्ञ से जलधर बना मुख कर्म के संचार से॥ १४॥
है कर्म वेदों से हुआ नित वेदों को ब्रह्मज मानिये।
उस सर्व व्यापी ब्रह्म को नित यज्ञ में ही जानिये॥ १५॥
यह कर्म जो करता नहीं नर शास्त्र के अनुसार है।
उसका जगत में जन्म लेना सर्वथा बेकार है॥ १६॥
पर जो पुरुष निज आत्मा में तृप्त रत हैं तोष पाते।
वे निरन्तर इस जगत में कर्म से है मोक्ष पाते॥ १७॥
ऐसे पुरुष रखते न कोई स्वार्थ जंग से हैं कभी।
परलोक हितकर भी किया करते कभी हैं कार्य भी॥ १८॥
जो कर्मफल से रहित हो करता सदा उपकार है।
वह कर्म करता पहुँचता परमात्मा के द्वार है॥ १९॥
यों जनक इत्यादि ने भी सिद्धि ली है कर्म करके।
योग्य हो तुम कर्म करने विश्व पर भी दृष्टि करके॥ २०॥
उत्तम पुरुष के कृत्य का अनुसरण करते हैं सभी।
उनके वचन को भूलकर विस्मृत न करते हैं कभी॥ २१॥
यद्यपि हमें त्रैलोक्य में कर्तव्य करना है नहीं।
फिर भी लगे हम कर्म में दुर्लभ नहीं है कुछ कहीं॥ २२॥

हे पार्थ! यदि हम कर्म से यों आज नाता तोड़ दे।
तो भक्त सारे ही हमारे कर्म करना छोड़ दे॥ २३॥
और यदि हम कर्म करना छोड़ दे जग नाश हो।
हो वर्ण– शङ्कर जन्म एवं अशुभ पाप विकास हो॥ २४॥
ज्यों मूर्ख करता कर्म है अर्जुन विषय में लीन हो।
वैसे करे विद्वान भी कर्तव्य विषय विहीन हो॥ २५॥
अज्ञानियों से नित्य ज्ञानी कर्म करवाता रहे।
चातुर्य्य से शुभ मार्ग पर उसको सदा लाता रहे॥ २६॥
हे पार्थ यद्यपि प्रकृति गुण से कर्म होता है सदा।
पर मूर्ख कहता है कि मैं हूँ कर्म–चर्त्ता सर्वदा॥ २७॥
गुण–कर्म के सब तत्व को जो विज्ञ है पहचानता।
वह है विषय में लीन होना तुच्छ अर्जुन मानता॥ २८॥
होकर प्रकृति–गुण से विवश जो विषय–रस से लीन है।
उनको हटाना मार्ग से निज बुद्धि करना क्षीण है॥ २९॥

इसलिये हे अर्जुन तुम अब –

कर कर्म मुझको समर्पित प्रेम पूर्वक चित्त से।
अब युद्धरत हो शोक ममता से रहित हो चित्त से॥ ३०॥
हे पार्थ! जो मेरे वचन को भक्ति पूर्वक मानते।
कर कर्म वह ही विज्ञजन हैं मुक्ति–फल को जानते॥ ३१॥
मेरे कथन को मूर्ख जो स्वीकार करता है नहीं।
वह मोह में पड़ कर कभी भव–सिंधु तरता है नहीं॥ ३२॥
अपने स्वभाव विवश पुरुष सब कर्म करते है यहाँ।
है विज्ञ भी निजप्रकुतिवशफिर इन्द्रियों का वश कहाँ॥ ३३॥
इन्द्रिय–विषय के मध्य राग–द्वेष का तजना भला।
वे हैं विनाशक मुक्ति के है पाप मय इनकी कला॥ ३४॥

गुण रहित अपना धर्म भी है श्रेष्ठ सुन्दर नित्य ही।
कल्याण प्रद निज धर्म में मरना ही होता सत्य ही॥ ३५॥

भगवान कृष्ण की इन बातों को सुनकर अर्जुन ने कहा –

हे प्रभो! इच्छा रहित भी क्यों पुरुष है पाप करता।
हो यथा प्रेरित किसी से वह होकर विचरता॥ ३६॥

तब श्री कृष्णचन्द्र जी कहने लगे कि –

अर्जुन रजोगुण से जनित है काम क्रोध महान ये।
ये ही मनुज के शत्रु हैं औ पाप की है खान ये॥ ३७॥
जैसे धुएँ से अग्नि दर्पण मैल से लाचार है।
वैसे पराजित काम से यह ज्ञान का संसार है॥ ३८॥
सत्य है कामाग्नि अर्जुन शत्रु गुरुतर प्राणियों का।
यह भयंकर रूप धर कर ज्ञान हरता ज्ञानियों का॥ ३९॥
उत्पन्न होकर काम इन्द्रिय बुद्धि मन की खान से।
है मोह वश कर ज्ञानियों को दूर करता ज्ञान से॥ ४०॥
इस हेतु पहले इन्द्रियों को तुम स्ववश अर्जुन करो।
फिर काम का संहार कर जग श्रेष्ठता को तुम वरो॥ ५१॥
है देह इन्द्रिय से परे है इन्द्रियों से मन परे।
मन से परे है बुद्धि और है आत्मा सब से परे॥ ५२॥
इस तरह अर्जुन आत्मा सब से अधिक बलवान है।
मन को स्ववश कर काम का संहार ही कल्याण है॥ ५३॥

❁ तृतीय अध्याय समाप्त ❁

॥ चतुर्थ अध्याय ॥

श्री कृष्ण कहते है कि हे अर्जुन –

कर्मयोग प्रसंग को रवि से कहा था प्रथम हमने।
रवि से सुना मनु ने तथा मनु से सुना इक्ष्वाकु ने॥ १॥
इस भाँति ज्ञानी एक सुनता दूसरे से नित रहा।
अन्तर पड़े कुछ काल के पर खो गया यह कर्म हा॥ २॥
हे पार्थ तुम को मित्र अपना और सुहृद वन जानकर।
यह फिर सुनाई है कथा कल्याण कारी मानकर॥ ३॥

इस प्रकार भगवान श्री कृष्ण जी की बात सुन कर अर्जुन ने पूछा –

रवि तो सनातन देव पर अब आप जन्मे है प्रभो।
कलादि में कैसे सुनायी यह कथा उनको कहो॥ ४॥

तब भगवान ने उत्तर दिया –

हे पार्थ! हम तुमने धरा है देह लाखों बार यों।
हम जानते हैं तत्व यह हो सोचते बेकार क्यो॥ ५॥
जीवन मरण से मुक्त यद्यपि ईश जगदाधार हूँ।
पर योग माया से सदा लेता यहाँ अवतार हूँ॥ ६॥
जब पाप बढ़ता धर्म घटता विश्व में अर्जुन कभी।
मैं धर्म रक्षा के लिये अवतार लेता हूँ तभी॥ ७॥
फिर साधु की रक्षा करूँ मैं दुष्ट का संहार कर।
उत्थान करता धर्म का युग–युग सदा अवतार धर॥ ८॥
हैं जो हमारे जन्म गुण, कर्तव्य को पहचानते।
वे लीन हो हममें परम पद स्वाद को हैं जानते॥ ९॥

हे पार्थ! करके ज्ञान तप मय, क्रोध तज ममता सभी।
अब तक बहुत से विज्ञ हममें हो चुके हैं लीन भी॥ १०॥
मिलता है फल वैसा उसे जो भजन करता है यथा।
इस हेतु बुध भजते हमें मम मार्ग पर चलते तथा॥ ११॥
है सिद्धि मिलती देव–पूजा से सुलभ संसार में।
पर कठिन है मिलना हमारा विश्व पारावार में॥ १२॥
हैं कर्म गुण अनुसार चारों वर्ण मम द्वारा बने।
करतार हैं यद्यपि हमें बुध सृष्टि कर्त्ता मत गने॥ १३॥
हैं कर्म–फल–इच्छा रहित हम कर्म से भी दूर हैं।
जो जानते ऐसा हमें वे विज्ञ भी भरपूर है॥ १४॥
यह जानकर–पूर्वज मुमुक्षों ने किया यह कर्म है।
अनुकरण करना पूर्व पुरुषों का तुम्हारा धर्म है॥ १५॥
कर्म और अकर्म का बुध, जन न निर्णय कर सके।
हम कर्म करते हैं वहीं भव सिन्धु जिससे तर सकें॥ १६॥
तुम कर्म के आकार को अर्जुन उचित है जान लो।
है चाल टेढ़ी कर्म की गति कर्म की पहचान लो॥ १७॥
जिसको सुकर्म अकर्म और अकर्म जिसका कर्म है।
योगी वही ज्ञानी वहीं करता वहीं सब धर्म है॥ १८॥
ज्ञानाग्नि में सब कर्म को जो भस्म करता है सदा।
फल कामना से रहित है पंडित वहीं है सर्वदा॥ १९॥
संतुष्ट हैं जो कामना नर लोक आश्रय त्याग कर।
वे कर्म करके भी विलग हैं कर्म से आठों पहर॥ २०॥
जो आत्मा को कर स्ववश सब कामना को त्याग कर।
देहार्थ करता कर्म है निष्पाप है वह विज्ञ नर॥ २१॥

जिसके लिये सुख दु:ख लाभालाभ एक समान है।
बँधता नहीं कर कर्म भी स्वाधीन वह विद्वान है॥ २२॥
जो यज्ञहित कर आचरण इच्छा रहित निष्पाप है।
ऐसे पुरुष का नष्ट होता कर्म अपने आप है॥ २३॥
जो हव्य हवनादिक सभी कुछ ब्रह्ममय है मानता।
वह ब्रह्म में लवलीन ही है ब्रह्म सब में जानता॥ २४॥
है कर्म योगी यज्ञ करते देव-पूजन नेम से।
ब्रह्माग्नि में कुछ यज्ञ द्वारा यज्ञ करते प्रेम से॥ २५॥
कुछ अग्नि संयम में जलाते कर्म इन्द्रिय आदि को।
इन्द्रिय हवन में होमते हैं कुछ विषय शब्दादि को॥ २६॥
निज प्राण कुछ योगी तथा सब कर्म सारी कामना।
योगाग्नि में कर हवन जड़ से चाहते है नाशना॥ २७॥
बुध और कोई द्रव्य से सब हवन तप द्वार करें।
कुछ शास्त्र पढ़ते हैं तथा कुछ नाम जप प्यारा करें॥ २८॥
फूकें परस्पर प्राण और अपान को मख धाम में।
है रोक प्राणापान कोई लीन प्राणायाम में॥ २९॥
अहार नियमित यज्ञ कर जो प्राण को हैं होमते।
वे यज्ञ-दानी सर्वदा ही मुक्त होकर डोलते॥ ३०॥
खा शेष अमृत ज्ञान मख का ब्रह्म से नर लीन हो।
मख के बिना यह लोक और परलोक दोनों क्षीण हों॥ ३१॥
है वेद ने विस्तार से विधि यज्ञ का वर्णन किया।
हो मुक्त यदि जाने उन्हें है प्राप्त होते कर किया॥ ३२॥
गुरु ज्ञान मख है यज्ञ धन से श्रेष्ठ अर्जुन सत्य ही।
कारण कि उसमें कर्म सारे लीन होते नित्य ही॥ ३३॥

हमने सुनाई है तुम्हें जो ज्ञान की बाते अभी।
सेवा बिना ज्ञानी सुनायेंगे नहीं अर्जुन कभी॥ ३४॥
इस ज्ञान को जन प्राप्त करके मोह में फँसते नहीं।
लख ब्रह्ममय ब्रह्मान्ड को हमसे विलग रहते नहीं॥ ३५॥
यदि मात हो अर्जुन सुनो तुम घोर पापाचार से।
तो तार देगी ज्ञान नौका पाप–पारावार से॥ ३६॥
पावक जलाकर खाक करती ज्यों लकड़ियों को सदा।
ज्ञानाग्नि में है भस्म होता कर्म भी त्यों सर्वदा॥ ३७॥
पावन न कोई वस्तु है इस ज्ञान सम संसार में।
है ज्ञान ही नौका सदृश इस कर्म के जलधार में॥ ३८॥
श्रद्धालु इन्द्रिय जीत ही इस ज्ञान को पाते सदा।
वे ज्ञान द्वारा ही सुनो सुरधाम जाते सर्वदा॥ ३९॥
श्रद्धा रहित संशय सहित हैं प्राप्त प्रभु करते नहीं।
वे लोक और परलोक दोनों नष्ट करते हैं यहीं॥ ४०॥
निज ज्ञान से संशय रहित हो कर्म अर्पण कर हमें।
फिर आत्मज्ञानी जन सदा सुरलोक में सुख से रमें॥ ४१॥
हे पार्थ! निज संदेह की अब ज्ञान से विचलित करो।
रण के लिये तैयार हो यश–मान को अर्जित करो॥ ४२॥

❁ चतुर्थ अध्याय समाप्त ❁

॥ पंचम अध्याय ॥

अर्जुन भगवान से कहते हैं –

कहते कभी हो कर्म उत्तम, योग को कहते कभी।
निश्चय कहो क्या कर्म है, कर दूर मम संशय सभी॥ १॥

भगवान कृष्ण ने उत्तर दिया –

यह कर्म अथवा ज्ञान दोनों यज्ञ पूर्ण प्रधान हैं।
पर कर्म का ही जन सदा करते अधिक सम्मान है॥ २॥
रागादि इच्छा रहित हो जो कर्म से संयुक्त है।
बस जान लो भव–पाश से वे सर्वदा ही मुक्त हैं॥ ३॥
इस ज्ञान योग सुकर्म को हैं मूर्ख ही दो मानते।
पर परस्पर लीन दोनों विज्ञ जन हैं जानते॥ ४॥
है एक ही फल प्राप्त होता कर्म अथवा ज्ञान से।
इस हेतु योगी मानते हैं सम इन्हें निज ध्यान से॥ ५॥
है कर्म विरहित ज्ञान का पाना कठिन ही सर्वदा।
बुध ज्ञान लेकर कर्म द्वारा मुक्त होते हैं सदा॥ ६॥
जो हैं जितेन्द्रिय शुद्ध आत्मा और पूरित ज्ञान से।
वे कर्म कर भी विलग है नित कर्म के मैदान से॥ ७॥
तत्वज्ञ योगी सांख्य का है देखता सुनता सदा।
सोता तथा है सूँघता निश्वास लेता सर्वदा॥ ८॥
है ग्रहण त्यागन और भोजन कर्म करता नित्य ही।
पर मानता है कर्म से वह दूर निज को सत्य ही॥ ९॥
हैं ब्रह्म हित जो कर्म करते पाप में पड़ते नहीं।
ज्यों कमल–पत्रों पर कभी जलकण ठहर सकते नहीं॥ १०॥
निष्काम करते कर्म हैं तन बुद्धि मन से सर्वदा।
निज आत्म शुचिता के लिए ही कर्म योगी जन सदा॥ ११॥
कर्म फल तज कर्म योगी ब्रह्म को है प्राप्त करता।
किन्तु कामी फल विवश हो कर्म बन्धन में उलझता॥ १२॥
जो आत्मा को स्ववश कर तज कामना छलछन्द को।
हैं लीन प्रभु वे प्राप्त करते ब्रह्म रस आनन्द को॥ १३॥

फल कर्म का कर्त्ता स्वयम् ईश्वर न रखता है कभी।
है प्रकृति ही इस सृष्टि की रचना किया करती सभी॥ १४॥
ईश्वर किसी के पुण्य को या पाप को खोता नहीं।
है मोह–माया से विवश नर ज्ञान मय होता नहीं॥ १५॥
यदि ज्ञान से अज्ञान को जन नाश कर पायें कहीं।
तो ज्ञान रवि के सामने है मुक्ति–फल दुर्लभ नहीं॥ १६॥
एकाग्र कर मन बुद्धि जो जन हरि चरण में लीन हैं।
वे सर्वथा निष्पाप होकर जन्म–बन्धन हीन हैं॥ १७॥
विद्या विनययुत विप्र गोगज श्वान और चाण्डाल को।
समभाव से जो देखते हैं वे मसलते काल को॥ १८॥
जो एक सम सब जीव मानें पुण्य से संयुक्त हैं।
वे विश्व में जीवित दशा ही में निरन्तर मुक्त हैं॥ १९॥
अप्रिय तथा प्रिय को मिले दुख–सुख जिसे होता नहीं।
ऐसा पुरुष हैं ब्रह्म से किंचित विलग होता नहीं॥ २०॥
इस विश्व भोगों से रहित जो आत्म–सुख लवलीन हैं।
ऐसे पुरुष समदृष्टि वाले ब्रह्म–रस में लीन है॥ २१॥
हे पार्थ! इन्द्रिय जनित सुख सारे दुखों का मूल है।
इस हेतु ज्ञानी जन कभी फँसते न इसमें भूल है॥ २२॥
जो काम से है दूर और आता न किंचित क्रोध में।
हे पार्थ! वह ही है सुखी योगी वहीं इस लोक में॥ २३॥
अनुभव करें जो आत्मा में ज्ञान सुख विश्राम को।
है पाप छू सकता नहीं ऐसे परम निष्काम को॥ २४॥
जो सर्व हितकारी तथा संशय रहित निष्पाप हैं।
वे शान्त प्रभु को प्राप्त कर परब्रह्म अपने आप है॥ २५॥

जो सर्वथा है दूर रखता काम क्रोध विकार को।
वह ब्रह्म मय ही देखता है सब तरफ संसार को॥ २६॥
जो त्यागकर लौकिक विषय भू–मध्य दृष्टि प्रमाणकर।
निज नासिका को साधकर समप्राण और अपानकर॥ २७॥
मन बुद्धि इन्द्रिय जीत है निष्काम निर्भय युक्त है।
वे ब्रह्म रस में लीन होकर सर्वथा ही मुक्त हैं॥ २८॥
तप यज्ञ का भोगी तथा जन–मित्र हम सर्वेश है।
ऐसा हमें जो मानते वे शान्ति प्राप्त अशेष हैं॥ २९॥

❁ पंचम अध्याय समाप्त ❁

॥ छठवाँ अध्याय॥

श्री कृष्णचन्द्र जी कहते हैं कि हे अर्जुन!

योगी व सन्यासी वहीं निष्काम जिसका कर्म है।
पर कर्म–पावक के बिना उसका अधूरा धर्म है॥ १॥
सन्यास ही है योग अर्जुन बात मेरी मान लो।
सन्यास विरहित योग होना है कठिन सच जान लो॥ २॥
योग मिलता है सदा निष्काम कर्म प्रभाव से।
कल्याण मिलता किन्तु है संकल्प सर्व अभाव से॥ ३॥
जो कर्म इन्द्रिय–योग औ संकल्प आदिक दूर हो।
तब योग अपने आप ही नर देह में भर पूर हो॥ ४॥
निज आत्मा को चाहिये बचना सदा ही पतन से।
जब मित्र और अमित्र है यह आत्मा ही जतन से॥ ५॥
जब आत्मा स्वाधीन है तब मित्र है यह जान लो।
जब आत्मा है वश नहीं तब शत्रु है सच मान लो॥ ६॥

सुख–दुख गर्मी–शीत आदिक मान और अपमान को।
सम मानते है विज्ञ जो वे मान्य हैं भगवान को॥ ७॥
जो हैं जितेन्द्रिय ज्ञान औ विज्ञान इच्छा मुक्त हैं।
है स्वर्ण–पत्थर सम जिन्हें वे योग पद से युक्त हैं॥ ८॥
जो मित्र अरि पापी उदासी बन्धु द्वेषी साधु जन।
को देखते सम भाव से वे श्रेष्ठ नर हैं शुद्ध मन॥ ९॥
जो जीत इन्द्रिय कामना या वासना से हीन हों।
वे वास कर एकान्त में परमात्मा में लीन हो॥ १०॥
अति शुद्ध समतल भूमि है यह पूर्ण रूप विचार कर।
मृग चर्म कुश वस्त्रादि को ऐसी जगह पर डाल कर॥ ११॥
बैठ कर ऐसे सुआसन पर जितेन्द्रिय शुद्ध मन हो।
विज्ञ करता योग का अभ्यास निश्चय विरत तन हो॥ १२॥
सिर ग्रीव काया सम रहे वह तनिक चंचल हो नहीं।
नासाग्र अवलोकै सदा ये नयन घूमै ना कहीं॥ १३॥
बन ब्रह्मचारी शान्त मय संसार–भय से हीन हो।
फिर योग का साधन करे मुझमें निरन्तर लीन हो॥ १४॥
इस तरह योगी योग कर पाते मुझे है सर्वदा।
फिर मुक्त हो संसार से पाते अलौकिक सम्पदा॥ १५॥
कर अल्प भोजन या अधिक हे पार्थ! या ब्रत धारकर।
नर योग कर सकता नहीं सोकर अधिक या जागकर॥ १६॥
नित कर यथोचित नियम से आहार और बिहार को।
है सिद्धि पाता योग में नर टाल निज दुख भार को॥ १७॥
इस तरह योगाभ्यास से मन जीता है जो सर्वदा।
निस्पृह पुरुष वह योग से संयुक्त कहलाता सदा॥ १८॥

ज्यों वायु विरहित जगह में हिलता न है दीपक कहीं।
प्रभु लीन योगी चित्त त्यों होता कभी चंचल नहीं॥ १९॥
हे पार्थ विषय विरक्त हो करता जो योगाभ्यास है।
वह ब्रह्मरस में लीन हो पाता सदैव सुपास है॥ २०॥
बस योग से ही प्राप्त होता अखिल ब्रह्मानन्द है।
जिसका न मन चंचल तनिक वह भी पुरुष निर्द्वन्द है॥ २१॥
इस ब्रह्म सुख के सामने लौकिक सभी सुख हीन है।
प्रभु लीन योगी दु:ख से होते न किंचित दीन है॥ २२॥
यह योग नित ही विलग है जग दु:ख से या वित्त से।
इस हेतु करना चाहिये नित योग सुस्थिर चित्त से॥ २३॥
निशेष: कर संकल्प से उत्पन्न सारी कामना।
होकर जितेन्द्रिय शुद्ध मन से योग को है साधना॥ २४॥
यह बुद्धि आत्म ज्ञान में अभ्यास से क्रम–क्रम लगा।
कर योग अर्जुन धैर्य मन हो ब्रह्म चिन्तन में पगा॥ २५॥
यह मन महा चंचल इसे तुम सब तरह स्वाधीन कर।
पर आत्मा से जोड़ दो सम्पूर्ण विषय विहीन कर॥ २६॥
मन शान्त जिनका है वहीं संसार में निष्पाप है।
वह ब्रह्म रस में लीन हो पाते न फिर परिताप है॥ २७॥
योगी सदा निष्पाप हो जो ब्रह्म–चिन्तन में लगा।
आनन्द अनुभव कर रहा है ब्रह्म रस में वह पगा॥ २८॥
सर्वात्मा में देखते निज आत्मा योगी सदा।
निज आत्मा में देखता सर्वात्मा है सर्वदा॥ २९॥
जग–सर्व भूतों में मुझे मुझमें सभी को जो लखे।
वह देखता मुझको तथा मैं देखता उसको सखे॥ ३०॥

यों सर्व व्यापी मान कर मुझको जो मुझमें लीन हैं।
वे कार्य में असक्त रह कर भी न मुझसे हीन हैं॥ ३१॥
हे पार्थ सबके दु:ख सुख को आत्म सम जो मानता।
वह श्रेष्ठ योगी है जगत में वह मुझे पहिचानता॥ ३२॥

भगवान के इस प्रकार उपदेशात्मक वचन को सुनकर अर्जुन ने कहा कि हे माधव –

समभाव से सर्वात्मा परमात्मा को देखना।
चंचल कुमन के सामने यह है असम्भव कल्पना॥ ३३॥
हे कृष्ण! मन प्रमथन प्रकृति वाला महा बलवान है।
मन स्ववश करना इसलिये अति कठिन पवन समान है॥ ३४॥

तब भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी बोले –

हे पार्थ! नि:सन्देह मन को स्ववश करना गरल है।
पर जान लो अभ्यास से स्वाधीन करना सरल है॥ ३५॥
उसको कठिन है योग यह जिसका न मन स्वाधीन है।
स्वाधीन मन वाला निरन्तर योग में लवलीन है॥ ३६॥

फिर अर्जुन बोले हे भगवान् –

चित्त अस्थिर योग से होता पतित है जो प्रभो।
वह कौन गति को प्राप्त होता कर कृपा मुझसे कहो॥ ३७॥
तब मार्ग–मोहित–पुरुष क्यों भगवान आश्रयहीन हो।
हे मेघवत् क्या नष्ट होता युगल जग से क्षीण हो॥ ३८॥
हे कृष्ण! मम सन्दहे को अब दूर कर दो आप ही।
है तव सिवा संशय मिटाना और को सम्भव नहीं॥ ३९॥

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर जनार्दन ने कहा हे अर्जुन –

ऐसे पुरुष का नाश होता लोक या परलोक में।
किंचित नहीं अर्जुन सुनो शुभ–कर्म के आलोक में॥ ४०॥
कुछ काल रहकर स्वर्ग में जो योग से गिर कर मरे।
पश्चात् फिर श्रीमान् के घर जन्म निज धारण करें॥ ४१॥
या जन्म लेता है किसी ज्ञानी सुयोगी के यहाँ।
है किन्तु दुर्लभ विश्व में पता सुअवसर यह जहाँ॥ ४२॥
फिर प्राप्त होता ज्ञान उसको पूर्व जन्म समान है।
तब योग साधन के लिये करता सुयत्न महान है॥ ४३॥
यों पूर्व जन्माभ्यास से वे पुरुष करते योग हैं।
फिर कर्म फल वेदोक्त तज पाते परमपद लोग हैं। ४४॥
कर यत्न योगी इस तरह होता जभी निष्पाप है।
पाता तभी है परमपद हो शुद्ध अपने आप है॥ ४५॥
योगी तपस्वी शास्त्र ज्ञानी से अतीव महान है।
इस हेतु तुम योगी बनो अर्जुन तभी कल्याण है॥ ४६॥
हे पार्थ जो योगी सदा मेरे भजन में लीन है।
वह श्रेष्ठ सारे योगियों से परम पर आसीन है॥ ४७॥

❁ छठवाँ अध्याय समाप्त ❁

॥ सप्तम अध्याय ॥

श्री कृष्ण भगवान बोले हे अर्जुन –

हे पार्थ! जिससे प्रेम मुझमें मोह का बन्धन कटे।
वह यत्न सुन लो ध्यान से संशय सभी मन से हटे॥ १॥
यह तत्व सुन फिर और कुछ सुनना न रहता शेष है।
अर्जुन तुम्हारे ही लिये यह वार्ता सविशेष है॥ २॥

है सैकड़ों में एक योगी विश्व में होता कहीं।
वह योगियों में एक ही पाता मुझे है सब नहीं॥ ३॥
भूअग्नि जलवायु खं तथा मन बुद्धि अहम् विकार से।
संयुक्त मेरी प्रकृति है हे पार्थ आठ प्रकार से॥ ४॥
यह आठ जड़ हैं प्रकृति मेरी हे महाबाहो सुनो।
इनके परे चेतन प्रकृति धारण धरा करती गुनो॥ ५॥
मेरी युगल इस प्रकृति से सब प्राणियों की बृष्टि हैं।
मैं मूल कारण विश्व का मुझसे प्रलय और सृष्टि है॥ ६॥
मुझसे परे कुछ भी नहीं है पार्थ इस संसार में।
मुझसे गुथे सब इस तरह मणियाँ गुथीं ज्यों हार में॥ ७॥
रवि चन्द्र में आलोक में नभ शब्द, जल रस तत्व हूं।
हूँ प्रणव वेदों में तथा पुरुषों में मैं पुरुषत्व हूँ॥ ८॥
हूँ तापसों में तप तथा मैं तेज पावक में सदा।
हूँ प्राणियों में प्राण मैं हूँ गन्ध क्षिति में सर्वदा॥ ९॥
हे पार्थ मुझको विश्व का तुम मूल कारण जान लो।
तेजस्वियों में तेज और श्रीमान में धी मान लो॥ १०॥
रागादि से हूँ मैं रहित सामर्थ्य सब बलवान में।
हूँ मदन सम हे पार्थ मैं सद्धर्म पूरित ज्ञान में॥ ११॥
तम सत्व गुण से भाव जो उत्पन्न होते हैं सदा।
मैं जनक हूँ उनका तदपि मुझसे अलग वे सर्वदा॥ १२॥
रागादि विषयों में निरन्तर मुग्ध यह संसार है।
इससे न कोई जानता मुझको विहीन विकार है॥ १३॥
मेरी अलौकिक त्रिगुण मय माया महा बलवान है।
इस मोह में मेरे भजन से ही सुनो कल्याण है॥ १४॥

पर मूढ़ भजते हैं नहीं जो मुग्ध पाप अधर्म में।
माया विवस अज्ञान मय हर दम फँसे दुष्कर्म में॥ १५॥
भजते मुझे ये चार हैं हे पार्थ सर्व प्रकार से।
ज्ञानी धनार्थी आर्त औ जिज्ञासु रहित विकार से॥ १६॥
है भक्त ज्ञानी श्रेष्ठ इनमें वह मुझे पहचानता।
वह चाहता मुझको निरन्तर मैं उसे हूँ चाहता॥ १७॥
यद्यपि सभी शुभ भक्त पर ज्ञानी महान उदार है।
यह बुद्धि सुस्थिर हो मुझे भजता विहीन विकार हैं॥ १८॥
मेरे सिवा जो दूसरे को जानता कुछ भी नहीं।
ऐसे सुज्ञानी विश्व में भजते मुझे मिलते कहीं॥ १९॥
आसक्त विषयों में तथा अज्ञान वश कुछ लोग है।
देवादि को बस पूजते जो चाहते जग भोग हैं॥ २०॥
जिस जिस अमर को पूजता जो–जो सकामी नेम से।
उस ही अमर के प्रति उसे मैं हूँ बढ़ाता प्रेम से॥ २१॥
फल स्वाभिलाषित पा सभी उस भक्ति से कर अर्चना।
द्वारा यद्यपि मेरे सुनो यह पूर्ण होती कामना॥ २२॥
यह किन्तु फल है मन्दमति का विश्व में नश्वर सदा।
वह प्राप्त होता देव को मम भक्त मुझको सर्वदा॥ २३॥
हैं देह धारी मूर्ख जन मुझको निरन्तर जानते।
सर्वज्ञ अविनाशी न भ्रम वश वे मुझे हैं मानते॥ २४॥
हूँ योग माया से छिपा, हैं मूर्ख लख पाते नहीं।
उस हेतु मुझको समझते हैं देहधारी वे कहीं॥ २५॥
हे पार्थ तीनों काल में मैं हूँ निरन्तर जानता।
पर भक्ति श्रद्धा रहित नर मुझको नहीं पहिचानता॥ २६॥

रागादि से उत्पन्न सुख–दुख में फंसे प्राणी सभी।
हे पार्थ यह अज्ञानता उससे न हटती है कभी॥ २७॥
पर छूट जाता मोह ममता से पुरुष है जो कहीं।
निष्पाप हो वह भजन करता भूलता मुझको नहीं॥ २८॥
मम शरण हो जो मुक्ति हित हैं यत्न करते सर्वदा।
वे ब्रह्म कर्माध्यात्म को पहचानते है जन सदा॥ २९॥
अधिभूत और अधियज्ञ वा अधिदेव सहित जो जानते।
मुझको पुरुष वे अन्त तक सर्वस्व अपना मानते॥ ३०॥

❁ सप्तम अध्याय समाप्त ❁

॥ अष्टम अध्याय॥

अर्जुन ने पूछा, हे भगवान –

यह ब्रह्म कर्माध्यात्म क्या है साफ मधुसूदन कहो।
अधिभूत और अधिदेव क्या है मेट दो संशय अहो॥ १॥
अधियज्ञ क्या है किस तरह है देह में रहता प्रभो।
अन्तिम समय तुम जानने में किस तरह आते अहो॥ २॥

श्री कृष्ण ने उत्तर दिया हे अर्जुन –

है परम अक्षर ब्रह्म और आध्यात्म अपना रूप है।
दानादि हित द्रव्यादिकों का त्याग कर्म अनूप है॥ ३॥
अधिभूत नश्वर वस्तु है अधिदेव नित्य प्रमान है।
अधियज्ञ तव यह मित्र तन में विष्णु रूप समान है॥ ४॥
जो अन्त अवसर पर मुझे तन त्यागता है ध्यान कर।
वह प्राप्त करता है मुझे संशय रहित भवसिन्धु तर॥ ५॥
क्यों की मनुज मरते समय लाता जिसे है ध्यान में।
पाता उसी को वह सखे, यह अमिट सृष्टि विधान में॥ ६॥

इस हेतु हे अर्जुन करो तुम याद मुझको सर्वदा।
तुम प्राप्त मुझको कर सकोगे सच वचन है यह सदा॥ ७॥
पार्थ यह ही नियम है जो योग से नर युक्त हो।
धरता मुझे है ध्यान में पाता मुझे वह मुक्त हो॥ ८॥
सर्वज्ञ चेतन नित्य और अनादि सूक्ष्म महान हूँ।
तुमसे परे चिन्ता रहित उज्वल निदेश समान हूँ॥ ९॥
जो पुरुष भृकुटी मध्य में मरते समय निज प्राण की।
रख, याद करता है मुझे पाता वहीं भगवान को॥ १०॥
श्रुति विद जिसे अक्षर भने योगी पहुँचता है जहां।
उस परम पद के भेद को हूँ कह रहा अर्जुन यहां॥ ११॥
रख प्राण को भ्रूमध्य में मन को हृदय को रोक कर।
कर इन्द्रियों को स्ववश लौकिक कामना को छोड़कर॥ १२॥
अन्तिम समय जो ॐ यह मेरा हृदय में ध्यान धर।
तन त्यागते पाते वही है मोक्ष–पद कल्याण कर॥ १३॥
हे पार्थ, जो नर चित्त से नित याद करता है मुझे।
वह मुक्त हो भव जाल से पाता सरलता से मुझे॥ १४॥
जो प्राप्त करता है मुझे इस भाँति साधु विचार से।
फिर जन्म लेता है नहीं वह मुक्त हो संसार से॥ १५॥
बैकुण्ठ में जाकर पुनः भी जन्म लेता है यहीं।
नर किन्तु पा करके मुझे संसार में आता नहीं॥ १६॥
जो पुरुष विधि दिन–रात की है अवधि नित्य न मानते।
वे काल के हैं तत्व को अच्छी तरह पहचानते॥ १७॥
अव्यक्त से ब्रह्मा–दिवस में जीवन सब उत्पन्न हो।
विधि–रात में फिर जीव सब अव्यक्त में प्रच्छन्न हो॥ १८॥

उत्पत्ति औ लय इस तरह सौ वर्ष तक होता जभी।
विधि सहित अपने लोक के फिर शान्त होता है तभी॥ १९॥
अव्यक्त से उस अति परे पर दूसरा अव्यक्त है।
जो ब्रह्म सब के नाश पर भी मृत्यु–जाल विरक्त है॥ २०॥
अर्जुन! इसी अव्यक्त को है परम गति कहते सभी।
जन पहुँचकर मम धाम में जग में न फिर आते कभी॥ २१॥
जिससे जगत परिपूर्ण है यह सृष्टि जिसमें लीन है।
वह ब्रह्म भक्ति अनन्य के बस सर्वदा आधीन है॥ २२॥

इस प्रकार भगवान कृष्ण ने आगे बतलाया कि किस काल में मरने से मोक्ष तथा किस काल में मरने से नरक प्राप्त होता है।

गति–भगित है किस काल के तनत्याग से अर्जुन सुनो।
मैं कह रहा हूँ भेद अब इसको हृदय से निज गुनो॥ २३॥
शशि पक्ष ज्योतिर अग्निदिन षट उत्तरायण मास में।
जो त्यागते तन साधु हैं पड़ते न वे भव पाश में॥ २४॥
तम पक्ष रजनी धूम औ षट दक्षिणायन मास में।
मरते पुनः आते यहाँ रह काल कुछ सुर वास में॥ २५॥
सित–असित यह दो मार्ग आवागमन हित तैयार है।
पर प्रथम देता मोक्ष, जन्म द्वितीय बारम्बार है॥ २६॥
जो जानता इस तत्व को वह मोह में पड़ता नहीं।
इस हेतु अर्जुन प्राप्ति हित मेरे करो साधन यहीं॥ २७॥
फल प्राप्त होता जो पठन श्रुतियज्ञ तप दानादि में।
तज विज्ञ उसको लिप्त होता है परम पद स्वाद में॥ २८॥

❀अष्टम अध्याय समाप्त ❀

॥ नवम अध्याय ॥

श्री कृष्ण भगवान कहते है कि –

हे पार्थ अब मैं गुप्त ज्ञान बता रहा हूँ ध्यान से।
यदि तुम सुनोगे मुक्त होंगे विश्व कष्ट महान से॥ १॥
यह ज्ञान सारे ज्ञान से है श्रेष्ठ गुप्त रहस्य मय।
है साधना के योग्य होता है नहीं इसका प्रलय॥ २॥
इस ज्ञान से श्रद्धा रहित नर है मुझे पाता नहीं।
हे पार्थ इस संसार में वह भ्रमण करता नित्य ही॥ ३॥
अव्यक्त मेरे रूप में यह व्याप्त सब संसार है।
सब जीव मुझमें मैं न उनमें पार्थ सत्य विचार है॥ ४॥
हे पार्थ मेरे योग माया की कुशलता है सभी।
मैं पालता हूँ विश्व को रहता हूँ उससे दूर भी॥ ५॥
जिस भाँति वायू गगन में अर्जुन विचरता मान लो।
उस भाँति मुझमें जीव सब रहते निरन्तर जान लो॥ ६॥
कल्पान्त में सब भूत मुझ में लीन होते हैं सदा।
कल्पादि में फिर से उन्हें रचता हूँ अर्जुन सर्वदा॥ ७॥
मैं प्रकृति वश सब जीव को रचता हूँ बारम्बार ही।
हे हे परंतप किन्तु उनके कर्म के अनुसार ही॥ ८॥
मैं कर्म बन्धन से विलग हे पार्थ, रहता हूँ सदा।
आसक्ति तज क्यों की उदासी रूप हूँ मैं सर्वदा॥ ९॥
आदेश से मेरे प्रकृति रचती सकल संसार है।
इस हेतु प्राणी विश्व में आता अनेकों बार है॥ १०॥
उद्धार हित संसार के मैं जन्म लेता हूँ सदा।
पर मूर्ख मुझको समझते हैं तुच्छ प्राणी सर्वदा॥ ११॥

जिसका बृथा है कर्म आशा और वृथा सब ज्ञान है।
वह अबुध करता है नहीं मेरा कभी सम्मान है॥ १२॥
सर्वस्व मुझको मानते हैं किन्तु दैवी प्रकृति जन।
हे पार्थ! वे भजते मुझे इस हेतु हो एकाग्र मन॥ १३॥
दृढ़ निश्चयी वे भक्त जन मेरे गुणों के गान में।
अनुरक्त रहते हैं निरन्तर भजन पूजा ध्यान में॥ १४॥
है पूजता बुध पार्थ मुझको यज्ञ ज्ञान विचार से।
कोई एकाकी भाव से कोई अनेक प्रकार से॥ १५॥
कारण कि मैं पावक, स्वधा, औषधि सुधृत व्रत यज्ञ हूँ।
हूँ हवन रूप क्रिया स्वयम् मैं मंत्र हूँ सर्वज्ञ हूँ॥ १६॥
हे पार्थ! धाता विश्व का मैं फलद कर्म अखेद हूँ।
माता पिता ओंकार हूँ मैं ही स्वयं सब भेद हूँ॥ १७॥
भर्ता शुभाशुभ का निरीक्षण विश्व का आधार हूँ।
उत्पत्ति अविनाशी तथा मैं ही प्रलय साकार हूँ॥ १८॥
मैं हूँ असत् सत् अमृत एवं मृत्यु स्वयम् विशाल हूँ।
हे पार्थ! हूँ वर्षा तथा रवि रूप भी विकराल हूँ॥ १९॥
बेदज्ञ मुझको सोम रस पी स्वर्ग-हित जो पूजते।
निज पुण्य फल से स्वर्ग में वे हैं अमर सुख भोगते॥ २०॥
पर पुण्य उनका क्षीण होता है परंतप हे जभी।
वे भोग कर सुर भोग को है विश्व में आते तभी॥ २१॥
ममुपासना जो पुरुष करते नित्य मेरा ध्यान धर।
मैं तृप्त करता हूँ उन्हें शुभ योग क्षेम प्रदान कर॥ २२॥
जो अन्य देवोपासना में भक्ति पूर्वक लीन है।
वे पुरुष भी हैं भक्त मेरे किन्तु ज्ञान विहीन हैं॥ २३॥

मैं यज्ञ का भोक्ता तथा स्वामी सफल हूँ आपही।
इस तत्व से अनभिज्ञ जो वे मुक्ति पाते हैं नहीं॥ २४॥
हैं पितृ पूजक पित्र को सुर भक्त सुर पाता सदा।
है भूत–पूजक भूत को मम भक्त मुझको सर्वदा॥ २५॥
अर्पण करें फल फूल जो भी भक्तिपूर्वक नेम से।
मैं ग्रहण करता हूँ उसे होकर प्रगट अति प्रेम से॥ २६॥
इस हेतु तप भोजन तथा मख–दान जो कुछ भी करो।
हे पार्थ! श्रद्धा सहित मेरे चरण पर उसको धरो॥ २७॥
यों फल शुभाशुभ कर्म–बन्धन से विरत हो जाओगे।
हो मुक्त इस भव जल से निश्चय मुझे तुम पाओगे॥ २८॥
मैं व्याप्त सब में हूँ तथा मैं शत्रु मित्र विहीन हूँ।
पर भक्त मम मुझको चहें मैं भक्त के आधीन हूँ॥ २६॥
जो दुष्ट भी भजता मुझे है भक्ति पूर्वक नेम से।
उर से लगाता हूँ उसे भी साधु सम मैं प्रेम से॥ ३०॥
इस हेतु यह धर्मात्मा बन शीघ्र जाता है सुनो।
होता नहीं है भक्त मेरा नष्ट तुम निश्चय गुनो॥ ३१॥
हो वैश्य, नारी, शूद्र अथवा पाप में अनुरक्त हो।
पाते परम गति हैं सभी मेरे शरण आ भक्त हो॥ ३२॥
ब्राह्मण तथा राजर्षि सब भजते मुझे हैं ध्यान धर।
तुम भी भजो अर्जुन मुझे लौकिक–सुखो को त्यागकर॥ ३३॥
हे पार्थ! मेरे शरण में आकर भजन मेरा करो।
तुम प्राप्त कर मुझको अभय भवसिंधु को सुख से तरो॥ ३४॥

❁ नवम अध्याय समाप्त ❁

॥ दशम अध्याय ॥

भगवान श्री कृष्ण चन्द्र जी बोले –

श्रद्धा सहित तुम बचन मेरा सुन रहे हो इसलिये।
मैं कह रहा हूँ और कुछ सुन लो परंतप मन दिये॥ १॥
उत्पत्ति मेरी देवता ऋषि जानते किंचित नहीं।
क्योंकि अनादि अनन्त हूँ सुस्थिर न रहता हूँ कहीं॥ २॥
जो जानता मुझको अजन्मा औ अनादि–महान है।
निष्पाप हो वह विज्ञ पाता स्वर्ग में सम्मान है॥ ३॥
सुख दु:ख मन निग्रह क्षमा उत्पत्ति ज्ञान तथा प्रलय।
करना स्ववश निज इन्द्रियों का सत्य एवं भय अभय॥ ४॥
समता अहिंसा दान तप सन्तोष यश–अपयश सुनो।
इन विविध भावों का जनक हे पार्थ! मुझको ही सुनो॥ ५॥
मुझसे हुये सनकादि, मधु सप्तर्षि सत्य विचार है।
जिनकी प्रजा कुन्ती–तनय हे यह अखिल संसार है॥ ६॥
यदि योग के ऐश्वर्य को जन जान लें मेरे कहीं।
मुझमें हों सुस्थिर योग से है तनिक भी संशय नहीं॥ ७॥
उत्पन्न मुझमें ही हुआ है पार्थ यह संसार है।
इस तत्व का ज्ञाता मुझे भजता सहस्त्रों बार है॥ ८॥
मुझमें लगाकर चित्त जो मेरे भजन में लीन है।
कर भक्त वे मेरा कथन संतुष्ट और अदीन हैं॥ ९॥
करते निरन्तर जो भजन उनका मैं रखता ध्यान हूं।
पाये मुझे ऐसा उन्हें हे पार्थ देता ज्ञान हूं॥ १०॥
हे पार्थ! उन पर कर कृपा अज्ञान उनका नाशकर।
देता उन्हें हूँ बुद्धि उर में ज्ञान दीप प्रकाश कर॥ ११॥

यह सुन अर्जुन बोले –

हे हे जनार्दन! परम पावन आप अमर अनन्त है।
हे परम ब्रह्म अनादि अक्षर अज तथा भगवन्त है॥ १२॥
अपने विषय में हे प्रभू जिस भाँति है मुझसे कहा।
वैसे कहा है व्यास, देवल, असित नारद, ऋषि महा॥ १३॥
केशव वचन हूँ आप का मैं सत्य नित ही मानता।
लीला तुम्हारी सुर–असुर कोई नहीं है जानता॥ १४॥
हे भूत भावन! देव देव!! जगत्पते तुम आपही।
हो जानते निज रूप को है जानता कोई नहीं॥ १५॥
इस हेतु अपने विषय में हे हरि कहो तुम आप ही।
है आप की कैसी विभूति समस्त जग में रम रही॥ १६॥
मैं किस तरह से भजन कर प्रभु आपको पहचान लूं।
किस भाव से चिन्तन करूं जिससे तुम्हें मैं जान लूं॥ १७॥
विस्तार पूर्वक योग शक्ति विभूति को अपनी कहो।
तब अमृत मय सुन बचन मुझको तृप्ति मिलती है प्रभो॥ १८॥

इसके पश्चात् भगवान श्रीकृष्ण ने कहा –

मेरी सदिव्य विभूतियों का पार अर्जुन! है नहीं।
इस हेतु मैं संक्षेप से हूँ कह रहा सुन लो यहीं॥ १९॥
हे पार्थ! आत्मा सफल भूतों का स्वयं मैं आप हूँ।
और उनके आदि अन्त सुमध्य का मैं माप हूँ॥ २०॥
मैं अदिति सत में विष्णु हूँ हूँ ज्योतियों में मैं दिवाकर।
अखिल वायु में मरीची और तारों में निशाचर॥ २१॥
मैं वेद में हूँ साम और सुर मध्य श्रेष्ठ सुरेश हूँ।
इन्द्रियों में मन तथा भूतों में ज्ञान विशेष हूँ॥ २२॥

रुद्रादिकों में शिव तथा मैं यज्ञ मध्य कुवेर हूँ।
मैं अत्रि हूँ वसु वृन्द मैं गिरि बीच विशद सुमेर हूँ॥ २३॥
मैं हूँ पुरोहित बिबुध में अर्जुन! बृहस्पति जान लो।
कार्तिक सुसेनप सु जलाशय मध्य सागर जान लो॥ २४॥
भृगु हूँ महर्षि समाज में मैं बचन में ओंकार हूँ।
हूँ यज्ञ में जप यश मैं अचलों में हिम आगार हूँ॥ २५॥
हूँ चित्ररथ गन्धर्व मैं पीपल विटप में सर्वदा।
हूँ सिद्धगण में कपिल मुनि, देवर्षि में नारद सदा॥ २६॥
उच्चैश्रवा हूँ अश्व में गज मध्य ऐरावत सुनो।
नर में नृपति हूँ पार्थ! मुझको सर्वदा ही तुम गुनो॥ २७॥
मैं धेनु में सुर धेनु हूँ अर्जुन मदन मैं आप हूँ।
मैं बज्र शस्त्रों में तथा साँपों में वासुकि नाग हूँ॥ २८॥
हूँ अर्यमा पितरों में मै नागों में मैं ही शेष हूँ।
हूँ शासकों में यम तथा जल–चर में वरुण विशेष हूँ॥ २९॥
हूँ दैत्य में प्रहलाद मैं पशुओं में मैं मृगराज हूँ।
हूँ समय गणना में तथा खग में गरुड़ खगराज हूँ॥ ३०॥
गंगा नदी में हूँ तथा मैं शस्त्र धर में राम हूँ।
मैं हूँ मछलियों में मकर एवं पवन अविराम हूँ॥ ३१॥
मध्यान्त एवं आदि हूँ इस सृष्टि का मैं सर्वदा।
अध्यात्म विद्या में यथा हूँ वाद वादी में सदा॥ ३२॥
हूँ वर्ग बीच अकार मैं एवं अनश्वर काल हूँ।
हूँ द्वन्द्व मध्य समास में पालक त्रिलोक विशाल हूँ॥ ३३॥
उत्पत्ति कारण और मैं ही मृत्यु हूँ संसार में।
मैं कीर्ति मेघा स्मृति, क्षमाधृति, वाक्श्री हूँ नारिमें॥ ३४॥

गायन में मैं सुति साम हूँ छन्दों में गायत्री छन्द हूँ।
हूँ मास में अगहन तथा ऋतु में वसन्तानन्द हूँ॥ ३५॥
तेजस्वियों में तेज मैं विजयी जनों में हूँ विजय।
हूँ सात्विकों में भाव सात्विक मैं जुबा हूँ कपट–मय॥ ३६॥
हूँ पाण्डवों में मैं धनञ्जय मुनि जनों में व्यास हूँ।
कवि मध्य शुक्राचार्य यादव मध्य कृष्ण सहास हूँ॥ ३७॥
मैं नीति हूँ विजयी जनों का दमन दण्ड महान हूँ।
मन गोपीनयों में मैं ज्ञानी में तत्व ज्ञान हूँ॥ ३८॥
हे पार्थ! भक्तों का जनक मैं हूँ इसे तुम मान लो।
सर्वस्व मेरा रूप है अपने हृदय में जान लो॥ ३९॥
संक्षेप में मैंने कहा मेरी विभूति अपार है।
हे पार्थ! विस्तृत रूप से कहना कठिन व्यापार है॥ ४०॥
नवकान्ति बल ऐश्वर्य से यह विश्व जो सम्पन्न है।
हे पार्थ! मेरे तेज से सब कुछ सुनो उत्पन्न है॥ ४१॥
अथवा बहुत कुछ जानना कुन्ती तनय बेकार है।
अणु अंश पर मेरे सुनो रहता सकल संसार है॥ ४२॥

❁ दशम अध्याय समाप्त ❁

॥ एकादश अध्याय ॥

भगवान की दिव्य विभूतियों का वर्णन सुन कर अर्जुन ने कहा–

अध्यात्म ज्ञान रहस्यमय जो आपने मुझसे कहा।
सुन कर उसे उर से प्रभो अज्ञान सब जाता रहा॥ १॥
सब प्राणियों की प्रलय–उत्पत्ति की कथा विस्तार से।
हे कृष्ण मैंने सुन लिया रख ध्यान सर्व प्रकार से॥ २॥

जैसे कहा है आपने निज रूप वह है सत्य ही।
वह देख लॅ प्रत्यक्ष अद्‌भुत रूप तव इच्छा यही॥ ३॥
वर शक्ति दर्शन योग्य मुझमें कृष्ण यदि कुछ पाइये।
तो कर कृपा मुझको अनश्वर रूप निज दिखलाइये॥ ४॥

तब भगवान श्री कृष्णजी ने कहा –

शत सहस वर्णाकृति विविध जो दिव्य मेरा रूप है।
हे पार्थ देखा ध्यान से अद्‌भुत अनन्त अनूप है॥ ५॥
वसु रूप मारुति पार्थ हे द्वादश अदिति अश्विन तथा।
तुम देख लो सब रूप मुझको जो कभी देखा न था॥ ६॥
हे पार्थ! मुझमें चर–अचर मय विश्व सारा देख लो॥
तुम और जो भी देखना चाहो उसे भी देख लो॥
पर देख सकते हो नहीं इन नेत्र से मम रूप को।
देता अलौकिक नेत्र हूँ लख योग रूप अनूप को॥

अब संजय राजा धृतराष्ट्र से कहते हैं कि –

ऐसे बचन कह पार्थ से राजन् सुनो योगेश ने।
फिर रूप अद्‌भुत धर लिया नटवर प्रभो परमेश ने॥ ९॥
मुख नेत्र नासा सहित अद्‌भुत उस समय भगवान थे।
थे दिव्य भूषण शस्त्र से सम्पन्न शान्त महान थे॥ १०॥
थे गन्ध अनुलेपन किये प्रभु दिव्य माला युक्त थे।
धारण किये वर वसन थे आश्चर्य से संयुक्त थे॥ ११॥
नभ में हजारों सूर्य से जो रोशनी होती नहीं।
प्रभु देह में थी रोशनी उससे भी बढ़कर के कहीं॥ १२॥
यों रूप अद्‌भुत पार्थ ने देखा परम विस्तार से।
सब विश्व को हरि देह में राजन् विभिन्न प्रकार से॥ १३॥

इसके अनन्तर पार्थ ने आश्चर्य से संयुक्त हो।
कर जोड़ बोले कृष्ण से रोमांच श्रद्धा युक्त हो॥ १४॥
शंकर विधाता, ऋषि तथा सूर्यादि सारे देवता।
तव देह में हैं जगतपति मैं हूँ सभी कुछ देखता॥ १५॥
मुख, बहुत चख, कर उदर युत् तव नाथरूप अनंत है।
पर नाथ दिखलाता तुम्हारा आदि मध्य न अन्त है॥ १६॥
हूँ आप को हे कृष्ण चक्र, गदादि धारे देखता।
हूँ अग्नि दिनकर से अधिक ज्योतित तुम्हें मैं देखता॥ १७॥
प्रभु आप अक्षर, ज्ञेय एवं विश्व के आधार हैं।
हैं धर्म रक्षक और अविनाशी विहीन विकार हैं॥ १८॥
कर बहुत शक्ति सहित प्रभो शशि सूर्य नेत्र अनूप हो।
मध्यान्त आदि रहित तथा सुखज्वलित पावक रूपहो॥ १९॥
तब रूप हे प्रभु स्वर्ग भू सारी दिशा में व्याप्त है।
लख उग्र ऐसे वेष को त्रैलोक्य भय को प्राप्त है॥ २०॥
कुछ देव आये शरण तव कुछ हाथ जोड़े हैं खड़े।
भय–विश्व कुछ गुण–गानलीन महर्षि सिद्ध बड़े–बड़े॥ २१॥
वसु रुद्र अदिती साध्यगण अश्विन पवन राक्षस सभय।
गन्धर्व यज्ञ पितर तुम्हें हैं देखते आश्चर्यमय॥ २२॥
उदर नेत्र भुजा, चरण मुख बहुत तब भगवान हैं।
लखकर जिसे मेरे सहित सब लोग व्यथित महान है॥ २३॥
नभ तक विशाल शरीर लख मुखदीर्घ चखज्वालित महा।
शम धैर्य मेरे हृदय से हे नाथ! सब जाता रहा॥ २४॥
विकराल जड़ वाले तथा दीपित मुखों को देखकर।
दिशि भ्रमित हूँ सुख दो मुझे हो मोद–युत हे देवधर॥ २५॥

भीष्म द्रोणाचार्य कौरव कर्ण मेरे वीर भी।
मैं देखता हूँ आप के मुख में पड़े हैं, हरि सभी॥ २६॥
विकराल मुख में वेग से कुछ हैं प्रभो जाते भगे।
कुछ चूर्ण हो सिर सहित दाँतों की जड़ों में है लगे॥ २७॥
ज्यों जलधि में नदियाँ प्रभो करती संवेग प्रवेश है।
त्यों ज्वलित मुख में वीर सब करते प्रवेश अशेष है॥ २८॥
अथवा शलभ अतिमोहवश दीपक शिखापर नाथ! ज्यों।
हैं प्राण देते विकट मुख में जा रहे हैं लागे त्यों॥ २९॥
अखिल लोकों को ग्रसित कर आप सुखमय हैं महा।
तप उग्र तेज प्रकाश से है विश्व तापित हो रहा॥ ३०॥
हे उग्र तन तुम कौन हो! हो अब प्रसन्न कृपा करो।
अपनी प्रवृत्ति बता मुझे मेरा सभी संशय हरो॥ ३१॥

तब विराट शरीर वाले भगवान बोले—हे अर्जुन!

संसार को खाऊँगा मैं, मैं विश्व नाशक काल हूँ।
मारो न तुम सबको तदपि मारूंगा मैं विकराल हूँ॥ ३२॥
इससे खड़े हो पार्थ तुम निज शत्रु संहारो सभी।
कारण बनो तुम नाश का सबको मैं मारूंगा अभी॥ ३३॥
यह भीष्म द्रोण, करण जयद्रथ वीर जितने है ंखड़े।
तुम जीत लोगे सहज में हो कौन चिन्ता में पड़े॥ ३४॥

अब संजय राजा धृतराष्ट्र से कहते हैं कि हे राजन!

इस भाँति केशव के बचन से भय विकम्पित हो महा।
अति विनत हो भगवान से कुन्ती—तनय ने यों कहा॥ ३५॥
तव नाम ले जन मुदित हो पावे अमल अनुराग भी।
करते प्रणाम हैं सिद्धगण भवभीत असुर भगें सभी॥ ३६॥

करना प्रणाम सुयोग्य है उनका जगत आधार हो।
हो आदि कर्ता ब्रह्म के अक्षर, अनन्त अपार हो॥ ३७॥
प्रभु आदि देव अनादि हो ब्रह्माण्ड के करतार हो।
हो श्रेय ज्ञाता परम पावन परम पद दातार हो॥ ३८॥
विधि वरुण पावक पवन यम ब्रह्मापिता हो शशि तथा।
है नमस्कार अनेक बार अनाद्रि तुमको सर्वदा॥ ३९॥
सम्मुख विमुख सब ओर से स्वीकार नाथ प्रणाम हो।
तुम सर्वव्यापी शक्ति विक्रम युक्त सुषमा धाम हो॥ ४०॥
तुमको सखा या कृष्ण जो हठपूर्वक मैंने कहा।
यह एक मेरा भ्रम तथा था प्रेम का कारण महा॥ ४१॥
भोजन शयन में आपका जो कुछ हुआ अपमान है।
अच्युत क्षमा कर दो उसे मेरा तभी कल्याण है॥ ४२॥
हो विश्व–गुरु एवं पिता तुम पूजनीय विशेष हो।
उपमा रहित त्रैलोक्य में अखिलेश और अशेष हो॥ ४३॥
ज्यों पति प्रिया, पितु–पुत्र एवं सखा के मित्रवर।
हैं दोष क्षमते त्यों क्षमो मम दोष हे करुणानिकर॥ ४४॥
अपना चतुर्भुज रूप धारण अब करो देवेश हे।
अद्‌भुत तुम्हारा रूप लख मैं व्यथित हूँ सर्वेश हे॥ ४५॥
प्रभु मुकुट, चक्र, गदासहितनिजरूप अब धारणकरो।
अब हो चतुर्भुज नाथ मेरे हृदय का संशय हरो॥ ४६॥

श्री कृष्ण जी ने कहा –

जो योगशक्ति प्रभाव से निज रूप दिखलाया अभी।
देखा नहीं इस रूप को अर्जुन किसी ने है कभी॥ ४७॥
जन वेदपाठी यज्ञकर्ता और दानी आदि भी।
है तव सिवा अर्जुन अपर दर्शन न पा सकते कभी॥ ४८॥

विकराल मेरा रूप लख हे पार्थ मत तुम सभय हो।
देखो प्रथम मम रूप को मनमुदित एवं अभय हो॥ ४९॥

संजय बोले –

फिर पूर्व रुचिकर रूप अपना कृष्ण ने धारण किया।
एवं विकल कुन्ती तनय के प्रेम से धीरज दिया॥ ५०॥

अर्जुन बोले –

लख सौम्य मानवरूप तव, प्रभु शान्तचित मेरा हुआ।
भ्रममयविकल्प और खेदयुत सुस्थिर हृदयमेरा हुआ॥ ५१॥

तब भगवान ने कहा –

मेरा चतुर्भुज रूप अर्जुन देखना दुर्लभ महा।
इस रूप दर्शन के लिए सुर भी सदा इच्छुक अहा॥ ५२॥
हे पार्थ! तप, जप, दान अथवा वेद पढ़कर यज्ञ भी।
इस रूप का दर्शन कठिन पाता न कोई है कभी॥ ५३॥
हे पार्थ! मेरा सुलभ, दर्शन है उन्हीं जन के लिए।
जो भक्ति मेरी नित्य करते आचरण निज दृढ़ किये॥ ५४॥
मेरे लिए जो कर्म करते प्रेम–वैर विहीन हो।
वे प्राप्त करते हैं मुझे मम ध्यान में अति लीन हो॥ ५५॥

❁ एकादश अध्याय समाप्त ❁

॥ द्वादश अध्याय ॥

अर्जुन बोले –

हरि सगुण वा निर्गुण उपासक कौन भक्त महान है।
करके कृपा मुझसे कहो किसका अधिक कल्याण है॥ १॥

भगवान कृष्ण ने कहा –

साकार मुझको मानकर भजता जो दम्भविहीन हो।
वह श्रेष्ठ मेरा भक्त है मुझसे सदा जो लीन हो॥ २॥
अव्यक्त, अविनाशी तथा सर्वज्ञ जो जन जान कर।
ध्रुव रूप हीन अचिन्त्य मुझको सर्वदा ही मानकर॥ ३॥
सब भूत शुभचिन्तक तथा कर इन्द्रियों को वश सही।
सम भाव योगी प्राप्त करता है मुझे निश्चय वहीं॥ ४॥
वह क्लेश होता प्राप्त जो अव्यक्त में आसक्त है।
देहाभिमानी के लिये यह मार्ग दुर्लभ व्यक्त है॥ ५॥
सर्वस्व अपना कर्म अर्पण कर मुझे जो ध्यान से।
भजता निरन्तर है मुझे एकाग्र सुस्थिर प्राण से॥ ६॥
हे पार्थ! ऐसे भक्त को इस मृत्यु मय संसार से।
मैं पार करता हूँ सदा अपने कुशल व्यापार से॥ ७॥
इस हेतु हे अर्जुन! सुनो मन–बुद्धि से आसक्त हो।
मुझमें, करोगे प्राप्त मुझको परम मेरे भक्त हो॥ ८॥
अर्जुन अचल मन तू न मुझमें है लगा सकता अगर।
तो प्राप्तहित मुझको निरन्तर योगमय अभ्यास कर॥ ९॥
इसमें भी यदि असमर्थ हो तो कर्म मेरे हित करो।
तुमको मिलेगी सिद्धि अर्जुन कर्म–पथ पर पग धरो॥ १०॥
है और यदि यह भी कठिन तो मम शरण में धनुर्धर।
आओ सहित अनुराग के फल वासना को त्यागकर॥ ११॥
शुभ ज्ञान गुरु अभ्यास से है ध्यान गुरु है ज्ञान से।
फल वासना का त्यागना गुरु शान्तिप्रद है ध्यान से॥ १२॥
इस भाँति पाकर शान्ति जो अभिमान स्वार्थ विहीन है।
द्वेषादि भावों से परे सुख–दुःख से भी हीन है॥ १३॥

मन इन्द्रियों को कर स्ववश मुझमें लगा जो ध्यान से।
वह भक्त सुस्थिर परमप्रिय मुझको अधिक है प्राण से॥ १४॥
निर्भय स्वयम् जो हो, न जिससे कष्ट कोई पा रहा।
जो क्रोध, मद मुद रहित हो वह है मुझे प्यारा महा॥ १५॥
निष्पक्ष अभिलाषा रहित, पटु शुद्ध जो सज्ञान है।
है रहित जो अभिमान से, वह भक्त मेरा प्रान है॥ १६॥
जो काम, चिन्ता, शोक एवं द्वेष–राग विहीन है।
है भक्त मुझको वह परमप्रिय, कर्मफल जो क्षीण है॥ १७॥
सम मित्र और अमित्र में रहता जो मान अपमान में।
जो एक सा रहता सदा सुख–दु:ख कष्ट महान में॥ १८॥
निन्दा प्रशंसा एक सम जो समझता है सर्वदा।
हे पार्थ! मुझको परमप्रिय वह, भक्त जग में है सदा॥ १९॥
जो परमगति और पूज्य मुझको, मान मम सेवा करें।
वह भक्त मुझको परमप्रिय जो धर्म–पथ को आचरें॥ २०॥

❁ द्वादश अध्याय समाप्त ❁

॥ त्रयोदश अध्याय॥

वीर रत्न अर्जुन अब श्री कृष्णचन्द्र से कहते है – कि हे भगवान् –

ज्ञान ज्ञेय पुरुष तथा क्षेत्रज्ञ, क्षेत्र, प्रकृति प्रभो!
मैं चाहता हूँ जानना क्या वस्तु है मुझसे कहो॥ १॥

तब भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी अर्जुन को उत्तर देते हुये कहने लगे कि –

हे पार्थ! क्षेत्र शरीर है कहते हैं ज्ञानी जन यही।
जो भेद इसका जानता क्षेत्रज्ञ है जग में वहीं॥ २॥

है क्षेत्र के वासी सभी क्षेत्रज्ञ हूँ मैं एक ही।
है ज्ञान रखना क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का उत्तम सही॥ ३॥
सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के उत्पत्ति और प्रभाव को।
हे पार्थ! कहता हूं सुनो तुम सर्व उनके भाव को॥ ४॥
है वेद सूत्रादिक विविध विधि से कहा ऋषि से सभी।
मम रूप जो, अर्जुन सुनो संक्षेप में मुझसे अभी॥ ५॥
है पंच भूत तथा अहमता बुद्धि माया व्यक्त जो।
रसनाद्रि इन्द्रिय मन सभी रहते विषय आशक्त जो॥ ६॥
सब द्वोष चेतनाधृति तथा सुख–दु:ख और इच्छा महा।
यह क्षेत्र का गुण–दोष मैंने सूक्ष्म में तुमसे कहा॥ ७॥
अभिमान, हिंसा, दंभविरहित और गुरु सेवा यथा।
वाणी सरल पावन ह्रदय हो स्ववश मन इन्द्रिय तथा॥ ८॥
ममता तथा विषयादि भोग्रों का न कुछ संचार हो।
नित जन्म–मरण, जरा तथा दुख दोषरोगविचार हो॥ ९॥
धन–धान्य, नारी, सुत, सदन और मोह से परिव्यक्त हो।
शुभ–अशुभ, सुख–दुख एक सम जो हर्ष शोक विरक्त हो॥ १०॥
मम भक्ति श्रद्धा युक्त हो करता अनन्य सुयोग से।
एकान्त वासी हो अलग संसार और कुभोग से॥ ११॥
अध्यात्म ज्ञानासक्त मुझको, सब जगह पर मानता।
है ज्ञान सार्थक बस यही अज्ञान अपर विचारता॥ १२॥
जो जान होते मुक्त जन वह ज्ञेय वस्तु सुखे सुनो।
मैं हूँ अनादि तदपि मुझे सत् असत् से विरहित सुनो॥ १३॥
परब्रह्मकोदृग, कर्ण, मुख, सिर चरण प्रतिदिशिप्रास है।
कारण की वह सर्वेश सब में सब तरह से व्यास है॥ १४॥

इन्द्रिय विषय को जानता पर इन्द्रियों से रहित है।
हे पार्थ निर्गुण है तदपि वह सर्वगुण के सहित है॥ १५॥
सब चर अचर में वह रमा है वह चराचर रूप भी।
वह सूक्ष्म विकट स्थूल है वह निकट भी है दूर भी॥ १६॥
वह है अभिन्न तथापि सब से भिन्न होता ज्ञान है।
वह विश्व का पालक, जनक एवं विनाशक काल है॥ १७॥
वह ज्योति ब्रह्म सुज्योतियों का भी असीम अगम्य है।
वह ज्ञेय है शुभ गान से प्रत्येक उर में रम्य है॥ १८॥
जो ज्ञान–क्षेत्र सुज्ञेय को समझा अभी मैंने कहा।
वह ज्ञान मुझमें प्राप्त कर मम भक्त पाते सुख महा॥ १९॥
यह है अनादि पुरुष–प्रकृति दोनों परन्तप जान लो।
गुण–दोष की जननी प्रकृति यह भी हृदय में जान लो॥ २०॥
क्यों की प्रकृति सब कार्य कारण हेतु है अर्जुन सुनो।
सुख दु:ख देती है यही जीवात्मा को यह गुनो॥ २१॥
सुख दु:ख पाते मनुज हैं इस प्रकृति के गुण भोग से।
हर योनियों में जन्म लेते प्रकृति ही के योग से॥ २२॥
गुण सहित प्रकृति यथा पुरुष को विश्व में जो जान ले।
फिर जन्म अपना लीन रह संसार में वे आन ले॥ २३॥
हे पार्थ! कितने बुद्धि से जन ब्रह्म को हैं देखते।
है योग से कितने तथा कुछ कर्म द्वारा लेखते॥ २४॥
कितने न ऐसा कर श्रवण कर अपर से उपदेश ही।
संसार–सागर पार करते हैं बिना वे क्लेश ही॥ २५॥
इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ही योग से संसार है।
क्षण नाश होना पार्थ हे चर अचर का व्यापार है॥ २६॥

जो देखते चर अचर नश्वर में प्रभू को व्याप्त है।
वे पुरुष इस जगत में ज्ञान वास्तविक प्राप्त है॥ २७॥
कारण कि सबको देखते हैं ब्रह्म जो सम भाव से।
वे प्राप्त करते है परम पद अमर आत्म प्रभाव से॥ २८॥
वह आत्मा निष्कर्म है, है प्रकृति ही सब कर रही।
जो मानते इस बात को विद्वान है वे सत्य ही॥ २९॥
विस्तार भूतों का तथा सम्पूर्ण उनकी भावना।
जो प्रकृति में देखे उसे पर ब्रह्म रूप बखानना॥ ३०॥
निर्गुण अनादि तथा अनीश्वर ब्रह्म है यह सत्य ही है।
पर देह में रह कर्म करता, लिप्त होता है नहीं॥ ३१॥
क्या व्याप्त यह आकाश होता लिप्त है किंचित नहीं।
त्यों आत्मा रह देह में है लिप्त हो सकता नहीं॥ ३२॥
रवि एक जैसे विश्व में करता अनूप प्रकाश है।
बस आत्मा का उस तरह प्रति देह मध्य विकास है॥ ३३॥
यों प्रकृति मोक्ष उपाय एवम् क्षेत्र–क्षेत्री भेद को।
जो जान ले पायें परम पद त्याग लौकिक खेद को॥ ३४॥

❁ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ❁

॥ चतुर्दश अध्याय॥

भगवान श्री कृष्ण चन्द्र जी अर्जुन से कहते है कि –

हे पार्थ! अब मैं कह रहा हूँ उस अलौकिक ज्ञान को।
मुनि जानकर पायें जिसे पावत परम–पद मान को॥ १॥
इस ज्ञान के अवलम्ब से मम रूप पाते मुनि सभी।
जो सृष्टि और विनाश में होते न मरते हैं कभी॥ २॥

इस प्रकृति ही की योनि में मैं बीज बता हूँ सदा।
हे पार्थ! जिससे भूत सच है जन्म लेते सर्वदा॥ ३॥
है भूत जितने जन्म लेते इस जगत में जान लो।
सबकी जननि यह है प्रकृति मैं हूँ पिता यह मानली॥ ४॥
इस प्रकृति से उत्पन्न रज, तम हैं सतोगुण जो सुनो।
यह बाँधते जीवात्मा को देह के निश्चय गुनो॥ ५॥
निर्मल तथा निर्दोष सतगुण परम पूर्ण विधान से।
है बाँधता जीवात्मा का ज्ञान के अभिमान से॥ ६॥
है जो रजोगुण रागमय तृष्णा जनित सुखपालता।
जीवात्मा को कर्मफल का लाभ देकर बाँधता॥ ७॥
अज्ञान से होता तमो गुण, मोहता संसार है।
आलस्य, निद्रा से करे यह जीव पर अधिकार है॥ ८॥
है कर्म में रख और सत् सुर में लगाता सर्वदा।
करता प्रभादी चित्त को तम ज्ञान ढँककर सर्वदा॥ ९॥
रज और तम को दाब कर है सत्व बढ़ता सर्वदा।
रज सत्व को तम सत्व तक को नाश रज करता सदा॥ १०॥
इस देह में हे पार्थ आती जिस समय है चेतना।
बस उस समय समझो हृदय में सत्व गुण का जानना॥ ११॥
अति लोभ कार्याशक्ति चंचलता बढ़े तब जान लो।
इस देह में रज बढ़ रहा है बात निश्चय मान लो॥ १२॥
सुन लो तमो गुण शक्ति पूर्वक देह में जब सचारे।
तब अति प्रमोद असीम आलस मोह तन में अवतरे॥ १३॥
हे पार्थ! सत्गुण बुद्धि में जो त्यागता है देह को।
वह प्राप्त करता है अमल शुभ सुखद सुरपुर गेह को॥ १४॥

रज वृद्धि में तन त्याग प्राणी असुर गृह में अवतरे।
तम वृद्ध में कीटाणु, अण्डज योनि पशु की संचारे॥ १५॥
बस फल सतोगुण का निरंतर सुखद शुभ प्रदज्ञान है।
रज का महा दुख और तम का फल महा अज्ञान है॥ १६॥
उस सत्व गुण से ज्ञान ही उत्पन्न रज से लोभ हो।
तम से प्रकट आलस्य और प्रमोद निद्रा लोभ हो॥ १७॥
इस हेतु सतगुण पुरुष पाते स्वर्ग मध्य निवास है।
रजगुण मनुज में और तमगु कीट पशु में वास है॥ १८॥
तीनों गुणों से आत्मा को मानता है जो परे।
वह प्राप्त कर हे पार्थ मुझको अमर घर में संचरे॥ १९॥
तीनों गुणों को जो पुरुष हे पार्थ, यों त्यागन करे।
वह जन्म मरण जरादि तज हो मुक्त भवसागर तरे॥ २०॥

इसके बाद अर्जुन बोले –

तीनों गुणों से मुक्त नर का नाथ क्या पहचान है।
हो मुक्त कैसे त्रिगुण से क्या युक्ति और विधान है॥ २१॥

भगवान श्री कृष्णचन्द्रजी ने उत्तर दिया कि –

कुन्ती तनय जिसकी प्रवृत्ति व मोह और प्रकाश का।
हो हर्ष मिलने पर नहीं, दुख हो न उनके नाश का॥ २२॥
जो त्रिगुण से विचलित न हो रहता उदासी सर्वदा।
जो परम एकीभाव से सुस्थिर रहे मुझमें सदा॥ २३॥
जो स्वर्ण मिट्टी मानता सुख दु:ख मान अपमान है।
सुन्दर असुन्दर देखता जो नित्य एक समान है॥ २४॥
जो शत्रु अथवा मित्र को समभाव से देखा करे।
वह पुरुष है अभिमान विरहित त्रिगुण से अतिशयपरे॥ २५॥

जो भक्ति में मेरी रहे दृढ़ एक निष्ठा युक्त हो।
वह ब्रह्म सत्ता योग हैं तीनों गुणों से मुक्त हो॥ २६॥
हे पार्थ! मैं ही अमृत अव्यय ब्रह्म परमानन्द हूँ।
एकान्त सुख हूँ धर्म शाश्वत और जीवन कन्द हूँ॥ २७॥

❀ चौदहवां अध्याय समाप्त ❀

॥ पंचदश अध्याय॥

भगवान श्री कृष्ण जी कहते हैं कि हे अर्जुन –

प्रभु मूल ब्रह्मा डाल जिसके वेद है पत्ते सुनो।
वेदज्ञ उस ज्ञानी विटप जग को निरन्तर तुम गुनों॥ १॥
साखा त्रिगुण पल्लव विषय यों जगविटपको प्राप्त है।
जड़ मोह एवम् वासना भी हर जगह पर व्याप्त है॥ २॥
संसार रूपी वृक्ष अर्जुन! आदि अन्त विहीन है।
है उचित शास्त्र विराग द्वारा उसे करना क्षीण है॥ ३॥

जब वैराग्य के तीव्र शास्त्र द्वारा संसार वृक्ष को काट डाले तो उचित है कि –

उस परम पद भगवान के फिर वह लगे सत्कार में।
हो प्राप्त जिससे परम पद आये न नर संसार में॥ ४॥
जो मोह मान विरक्त सुख–दु:ख कामना से हीन है।
पाते परम पद वे अनश्वर वेद विज्ञ प्रवीन है॥ ५॥

हे अर्जुन! मेरा लोक वह है जहाँ –

जोथलप्रकाशित वह्नि रवि शशि पार्थकर सकते नहीं।
नर मुक्त हो जाकर जहाँ बस धाम मेरा है वहीं॥ ६॥
इस देह में जीवात्मा है अंश मेरा सर्वदा।
मन सहित पाँचों इन्द्रियों को खींचता है जो सदा॥ ७॥

अब दह धरता अंश अथवा त्यागता सम्बन्ध को।
मनसहित इन्द्रिय लेचले ज्यों पवन कुसुम सुगंध को॥ ८॥
जब जीवरसना चख, त्वचा, श्रवणादिकरता प्राप्त है।
होता तभी उनके सहारे विषय रस में व्याप्त है॥ ९॥
यह जीव है रस भोगता तन में बसै निकलै कभी।
है मूर्ख का अज्ञान पर वह जानते ज्ञानी सभी॥ १०॥
नर देखते हैं यत्न कर उसको जो योग प्रवीण है।
पर यत्न करके भी न सकते देख जो मति हीन है॥ ११॥
हे पार्थ! जो है तेज रवि में विश्व तम रहता घना।
जो तेज है शशि वह्नि में वह तेज मेरा जानना॥ १२॥
मैं ही धरा में लुप्त हूँ सब भूत को धारण करूँ।
मैं ही सुधमय चन्द्र हो जग कोष औषधि से भरूँ॥ १३॥
हे पार्थ! मैं प्रति देह में जठराग्नि बन कर संचरूँ।
हो युक्त प्राणापान से चतुरन्न का पाचन करूँ॥ १४॥

अन्न के चार प्रकार यह है – भक्ष्य, भोज्य, चोस्व और लेह्य।

प्रति देह में मैं ही रहूँ मैं ही स्मृति अरू ज्ञान हूँ।
वेदान्त कर्ता वेद ज्ञाता वेद का मैं प्राण हूँ॥ १५॥
नश्वर अनश्वर वस्तु दो इस विश्व में हैं जान लो।
यह देह नश्वर और आत्मा है अनश्वर मान लो॥ १६॥
इस देह आत्मा से परे परमात्मा है एक ही।
जो कर रहा त्रैलोक्य का है भरण पोषण नित्य ही॥ १७॥
नश्वर अनश्वर से परे जग–वेद मुझको जानकर।
है नाम पुरुषोत्तम रखा मेरा उचित उर मान कर॥ १८॥
जो विज्ञ पुरुषोत्तम मुझे नर जानता है नित्य ही।
हे पार्थ! अन्यत्र है मुझे सर्वज्ञ है निश्चय वहीं॥ १९॥

हे पार्थ! यह जो भेद मय है शास्त्र मैंने अब कहा।
होते कृतार्थ इसे श्रवण कर पुरुष गण ज्ञानी महा॥ २०॥

❁ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ❁

॥ षोडश अध्याय॥

भगवान श्री कृष्ण चन्द्र जी ने कहा कि हे अर्जुन अब दैवी पुरुषों के गुण सुनो –

निर्भय तथा पावन हृदय हो मग्न प्रभु के ध्यान में।
हो सरल अन्तर लीन हो पाठन–पठन, तप–दान में॥ १॥
जो लोभ चंचलता, अहमता और खलता हीन हो।
मधु सरस रसना मृदुलता अनुराग रस में लीन हो॥ २॥
है धैर्य्य तेज क्षमादि जिसमें कुछ नहीं अभिमान है।
हे पार्थ दैवी पुरुष लक्षण का यही पहिचान है॥ ३॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुष के गुण यह है –

हे पार्थ ! दम्भ तथा परुषता, क्रोध, अति अज्ञानता।
असुरी प्रकृति वाले मनुज में है भरा जग जानता॥ ४॥
दैवी प्रकृति हो मुक्त असुरी नरक ही में संचरे।
हे पार्थ तू दैवी पुरुष फिर व्यर्थ क्यों चिन्ता करें॥ ५॥
दैवी तथा असुरी प्रकृति वाले मनुज हैं यह गुनो।
दैवी–सगुण मैं कह चुका असुरी मनुज का अब सुनो॥ ६॥
शुभ सत्य शौचाचार का उनको न किंचित ज्ञान है।
होता है धर्माधर्म क्या उनको न किंचित ध्यान है॥ ७॥
यह विश्व है आश्रय तथा ईश्वर रहित वह मानते।
वर नारि के संयोग से बस सृष्टि है वह जानते॥ ८॥
प्रति मन्द है निज बात पर विश्वास रखते सर्वदा।
जग नाश करने के लिये वह जन्म लेते है सदा॥ ९॥

वे दम्भ–मद से युक्त हैं अभिमान से भरपूर हैं।
अज्ञानवश मिथ्याचरण करते वो ऐसे क्रूर हैं॥ १०॥
वे मरण तक चिंता ग्रसित और वासना में लिप्त है।
आनन्द भोग विलास से ही सर्वदा वे तृप्त है॥ ११॥
शत आश–बन्धन में बँधे व काम क्रोध विलीन हैं।
है कर्म करते भोग हित जग मध्य न्याय विहीन हैं॥ १२॥

इस प्रकार के मनुष्य प्रति पल इसी प्रपच में रहते हैं कि –

है आज यह पाया मनोरथ पूर्ण वह हो जायगा।
अनआज इतना मिलगया कलऔर भी मिल जायगा॥ १३॥
है आज मारा यह विपक्षी अपर का कल अन्त है।
कोई न मेरे तुल्य जग में इस तहर बलवन्त है॥ १४॥
मैं हूँ धनी– मानी सुखी मेरे न और समान है।
यों पार्थ ऐसे मनुज को घेरे हुये अज्ञान है॥ १५॥
इस हेतु हैं जो मूर्ख प्राणी मोह में जकड़े हुये।
बस जान लो वे हैं नरक का पथ सही पकड़े हुये॥ १६॥
अभिमान वश वे स्वयं को ही श्रेष्ठ सबसे मानते।
है नाम ही को यज्ञ करते शास्त्र नियम न जानते॥ १७॥
है क्रोध बल अभिमान पूरित कामना से सर्वदा।
हे पार्थ! ऐसे मूर्ख मुझसे द्वेष रखते है सदा॥ १८॥
ऐसे नराधम द्वेषकारी पापियों को सत्य ही।
हे पार्थ! असुरी योनियों में डालता हूँ नित्य ही॥ १९॥
यों जन्म असुरी योनियों में ले सहस्त्रों बार वे।
सहते नरक की यातना पाते नहीं उद्धार वे॥ २०॥
तीनों नरक के द्वार हैं ये लोभ, क्रोध, कुवासना।
यह आत्म नाशक सिद्ध हैं इनका उचित है त्यागना॥ २१॥

नर काम, क्रोध तथा प्रलोभन से सदैव जो मुक्त है।
वह प्राप्त करता है मुझे शुभ आचरण से युक्त है॥ २२॥
जो शास्त्र–विधि को त्यागकर स्वेच्छा से करते काम है।
वे सिद्धि पाते हैं नहीं पाते न मेरा धाम है॥ २३॥
हे पार्थ! कर्माकर्म का जब शास्त्र ही आधार है।
तो शास्त्र–विधि से कर्म करने का तुम्हें अधिकार है॥ २४॥

❁ सोहलवां अध्याय समाप्त ❁

॥ सप्तदश अध्याय॥

अर्जुन भगवान से कहते है कि –

जो शास्त्र–विधि को त्याग प्रभु करता सुरों की भक्ति है।
उसको कहो रज, तम कि अथवा सत्य में अनुरक्ति है॥ १॥

भगवान श्री कृष्ण जी ने उत्तर दिया –

यह शास्त्र रहित स्वभाव से उत्पन्न श्रद्धा हीन हैं।
हे पार्थ! रज सत् तम गुणों के जो सदा आधीन हैं॥ २॥
हे पार्थ! श्रद्धा मनुज की उसके हृदय अनुरूप है।
श्रद्धा है जिसकी जिस तरह वैसा ही उसका रूप है॥ ३॥
सात्विक पुरुष सुर को तथा राजस असुर को पूजते।
हैं तम प्रकृति वाले मनुज प्रेतादि के पद चूमते॥ ४॥
है घोर तप में तप रहा जो शास्त्र–विधि से मुक्त हो।
पाखण्ड एवं कामना अभिमान से संयुक्त हो॥ ५॥
है देह धारी पंचूभूतों सहित मुझको नित्य ही।
वह कष्ट देता आसुरी नर प्रकृति वाला हैं वहीं॥ ६॥
श्रद्धा त्रिविध प्रिय मनुज को जैसे त्रिविध आहार है।
वैसे सुनो तप, दान, मख हे पार्थ! तीन प्रकार है॥ ७॥

किन लोगों को किस प्रकार का आहार प्रिय है, भगवान कृष्ण आगे कहते है –

है बुद्धिबल, आरोग्यता सुख को बढ़ाता जो सदा।
यह स्निग्धमधुर आहार सात्विक पुरुष को प्रिय सर्वदा॥ ८॥
जो तीक्ष्ण कड़ुआ और खट्टा लवण युत आहार है।
राजस जनों को प्रिय महा जो रोग का आगार है॥ ९॥
दुर्गन्ध मय जूठा तथा रक्खा हुआ कुछ समय का।
है तामसी नर को सुखद रस रहित भोजन अधपका॥ १०॥

इसी प्रकार यज्ञ के तीन भेद है –

जो शास्त्र–विधि अनुसार हो कर्त्तव्य की रख भावना।
वह यज्ञ सात्विक है जहाँ होती नहीं कुछ कामना॥ ११॥
दम्भाचरण के हेतु अथवा कर सुफल की कामना।
जो यज्ञ होता है उसे राजस परन्तप! मानना॥ १२॥
विधि शास्त्र अन्नविहीन श्रद्धा मन्त्र से जो रहित है।
वह दक्षिणा–दानादि विरहित यज्ञ तामस सहित है॥ १३॥
गुरुदेव ब्राह्मण और ज्ञानी का उपासन प्रेम से।
हैं देह–तप रहना अहिंसक ब्रह्मचारी नेम से॥ १४॥
उद्‌वेग से हो हीन वाणी सत्य प्रिय हितकर तथा।
नित अध्ययन हो शास्त्र का वह वचन तप है सर्वदा॥ १५॥
अति शान्त, अन्तर शुद्धता मन मोद भगवत्–चिंतना।
मानसिक तपस्या की यही है पार्थ! उत्तम साधना॥ १६॥

भगवान श्री कृष्ण चन्द्र जी ने आगे कहा कि हे अर्जुन! अब सात्विक, राजस तथा सामयिक तपस्या कौन सी है सुनो –

श्रद्धा सहित निष्काम अथवा त्याग फल की कामना।
पहले कथित तप तीन को सात्विक तपस्या जानना॥ १७॥
जो मान आदर, दम्भ हित करते तपस्या लोग है।
वह राजसी तप है क्षणिक उसमें सुखों के भोग है॥ १८॥
अज्ञानवश हठ से जो वाणी देह मन पीड़ित करे।
वह तामसिक तप है परन्तप सर्वथा ही सुख हरे॥ १९॥

अब दान के भी तीन भेद सुनो –

जो देश–काल सुपात्र युत उपकार इच्छा हीन हो।
सात्विक वहीं है दान देता वह जो कुशल प्रवीन हो॥ २०॥
जो दान प्रत्युपकार हित हो सहित फल की भावना।
वह दान राजस है सुनो हे पार्थ! निश्चय जानना॥ २१॥
जो दान युत है देश काल, सुपात्र के अविचार से।
है तामसिक वह दान निश्चय जो रहित सत्कार से॥ २२॥
वह 'ॐ तत् सत्' तीन अक्षर ब्रह्म नाम प्रमाण है।
'द्विज वेद' एवम् यज्ञ का इससे हुआ निर्माण है॥ २३॥
शास्त्रानुसार सुदान, तप औ यज्ञ ज्ञानी जन सदा।
ओंकार से आरम्भ करते इसलिए है सर्वदा॥ २४॥
तत् शब्द कह कर दान एवम् यज्ञ जो करता सही।
फल की न जिसमें भावना कल्याण कांक्षी है वहीं॥ २५॥
यह सत्य उत्तम भाव में शुभ कार्य आदिक में तथा॥
तत् शब्द उच्चारण किया जाता है अर्जुन सर्वथा॥ २६॥
सत् ही है सुस्थित दान–तप यज्ञादि कर्मो का सदा।
सत् प्रभु समर्पित मर्म भी है जान लो यह सर्वदा॥ २७॥
हे पार्थ जो! तप दान एवम् होम श्रद्धा हीन है।
यह है असत् इस लोक में परलोक में फल हीन है॥ २८॥

❁ सत्रहवां अध्याय समाप्त ❁

॥ अष्टादश अध्याय ॥

अर्जुन ने भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी से कहा –

अब त्याग और सन्यास के क्या तत्व है मुझसे कहो।
मैं चाहता हूँ जानना सब भेद बतलाओ प्रभो॥ १॥

भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र बोले –

सन्यास कितने विज्ञ माने काम्य कर्म विराग ही।
कितने कुशल जन त्याग जाने कर्मफल का त्याग ही॥ २॥
सब कर्म दोष भरे कहैं कितने उचित है त्यागना।
कितने कहै यज्ञादि कर्मों का उचित है मानना॥ ३॥
इस त्याग के सम्बन्ध में मेरा तो सत्य विचार है।
सत् रज तथा तम भेद से यह त्याग तीन प्रकार है॥ ४॥
तप दान एवं यज्ञ का जन मत कभी त्यागन करें।
क्यों की ये तीनों कर्म बुधजन को सदा पावन करें॥ ५॥
आसक्ति एवम् फल रहित यज्ञादि कर्म महान है।
हे पार्थ! मेरा मत यही इसमें अधिक कल्याण है॥ ६॥
यह नियत कर्म विमोहवश हे मित्र अर्जुन! त्यागना।
है त्याग तामस त्याग ऐसा उचित तुम मत मानना॥ ७॥
जो देह पीड़ा क्लेश भय में कर्म को त्यागे कहीं।
वह राजसी है त्याग किंचित त्यागफल मिलता नहीं॥ ८॥
आसक्ति फलतज कर्म विधिवत् शास्त्र के अनुसार जो।
सत् त्याग हैं करते सुज्ञानी धर्म नित्य विचार जो॥ ९॥
शुभ कर्म का प्रेमी न द्वेषी अशुभ का जो प्रवीन है।
वह सात्विक ज्ञानी, सुत्यागी पुरुष संशय हीन है॥ १०॥
यह देह धारी पुरुष त्यागे कर्म यह अज्ञान है।
बस कर्म–फल का त्यागना ही त्याग एक महान है॥ ११॥

पाता सकामी कर्म फल जो शुभ–अशुभ से युक्त है।
त्यागी न पाता कर्म कर भी क्योंकि कर्म विमुक्त है॥ १२॥
जो सर्व कर्म सुसिद्ध हित है पाँच हेतु सुनो अभी।
वह सांख्य द्वारा है कथित कहता हूँ, मैं अर्जुन सभी॥ १३॥
हे पार्थ! सुन लो ध्यान से जो हेतु पाँच प्रकार है।
सम्पूर्ण चेष्टा दैव और कर्ता करण आधार है॥ १४॥
मन, देह वाणी से मनुज करता जो कुछ भी काम है।
वह पाँच कारण से सुनो सहयोग का परिणाम है॥ १५॥
जो शुद्ध–बुद्धि विहीन प्राणी जीव को प्रभु मानते।
वह मूर्ख अज्ञानी नही कुछ भी सही है जानते॥ १६॥
अन्तर में कर्ता भाव जिसमें है न कार्या–युक्त है।
वह मार कर भी लोक–अघ से सर्वथा ही मुक्त है॥ १७॥
हो कर्म इच्छा ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय के संयोग से।
है कर्म बनता करण, कर्ताऔ क्रिया के योग से॥ १८॥
इस ज्ञान, कर्ता कर्म के भी भेद तीन प्रकार हैं।
कहता हूँ मैं अर्जुन सुनो जो सांख्य के अनुसार है॥ १९॥
समभाव से नर सर्व भूतों में लखे जिस ज्ञान से।
परमात्मा का ज्ञान सात्विक है सुनो वह ध्यान से॥ २०॥
नर सर्व भूतों में लखे जब भिन्न–भिन्न प्रकार ही।
हे पार्थ! भावों को विलग बस ज्ञान है राजस वही॥ २१॥
जो नर अनित्य शरीर ही को मान आत्मासक्त है।
वत्वार्थ विरहित युक्तिबिन वह ज्ञान तामस भक्त है॥ २२॥
जो शास्त्रविधि से कर्म कर्तापनके निर अभिमान से।
होता है सात्विक कर्म वह फल रहित अर्जुन ज्ञान से॥ २३॥
जो कर्म श्रम से मुक्त फल–इच्छा सहित अभिमान से।
होता ही राजस कर्म है हे पार्थ! अति अज्ञान से॥ २४॥

अति हानि हिंसा और क्या परिणाम होगा अन्त ही।
सोचे बिना जो कर्म होता कर्म तामस है वहीं॥ २५॥
आसक्ति मद से रहित धीरज युक्त जो कर्ता सुनो।
है सम बने बिगड़े क्रिया सात्विक उसे कर्ता सुनो॥ २६॥
आसक्ति फल इच्छा सहित लोभी तथा जो क्रूर है।
राजस गुणों से नित्य कर्ता वह सदा भरपूर है॥ २७॥
है जो अशिक्षित दीर्घ–सूत्री धूर्त अविचारी महा।
आलस भरा अभिमान युत वह तामसी जाता कहा॥ २८॥
इस बुद्धि धारण–शक्ति का भी भेद तीन प्रकार है।
कहता हूँ अर्जुन तुम सुनो धर ध्यान सत्य विचार है॥ २९॥
जाने प्रवृत्ति–निवृत्ति जो भय–अभय बन्धन मुक्त है।
एवम् सुकर्ता कर्म को वह बुद्धि सात्विक युक्त है॥ ३०॥
हे पार्थ! इस संसार में जो धर्म और अधर्म को।
वह बुद्धि राजस है सुनो जाने न कर्मा कर्म को॥ ३१॥
विपरीत अर्थों को लखै माने जो धर्म अधर्म को।
वह तामसी है बुद्धि अर्जुन, जान लो इस धर्म को॥ ३२॥
मन प्राण इन्द्रिय की क्रिया धरता जो ध्यान सुयोग से।
वह धारणा सत् से भरी मिलती सुपरम सूयोग से॥ ३३॥
धर्मार्थ एवम् कर्म जो आसक्ति वक्ष धारण करै।
वह धारणा वे राजसी नर शक्ति शालो को वरै॥ ३४॥
हे पार्थ! निद्रा, भय कुचिन्ता, शोक, मदमस्तीतवथा।
धारण करे जो तामसी वह धारणा है सर्वथा॥ ३५॥

भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने आगे कहा है कि हे अर्जुन! अब सुख के तीन भेद सुनो –

जो पुरुष सुख के ध्यान से भजता सदा भगवन्त को।
वह पार होता है सरलता से दुखों के अन्त को॥ ३६॥

आरम्भ में विष सा जो है पर अन्त में मधु सा अहा।
वह ब्रह्म विषयक बुद्धि आत्मज सात्वकी है सुख महा॥ ३७॥
है जो प्रथम मधु है अन्त में विष इन्द्रियों के योग से।
वह राजसी सुख है क्षणिक उत्पन्न हो दुर्भोग से॥ ३८॥
जो आदि एवम् अन्त में अति मोह से सम्पन्न है।
वह तमस सुख निद्रा तथा आलस्य से उत्पन्न है॥ ३८॥
हो स्वर्ग में या भूमि पर या अमरता से युक्त हो।
ऐसा न कोई है कहीं जो इस त्रिगुण से मुक्त हो॥ ४०॥
ब्राह्मण व क्षत्री वैश्य एवम् सूद्र के जो कर्म है।
वह है स्वभावज इसलिए सबके अलग यों धर्म है॥ ४१॥

भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी चारों वर्ण के अलग-अलग धर्म के सम्बन्ध में आगे कहते हैं –

तप सरलता शुचिता क्षमा पीड़ा सहे हित धर्म है।
हो बुद्धि आस्तिक शास्त्र विषयक ज्ञान ब्राह्मण कर्म है॥ ४२॥
वीरत्व, धीरज, तेज, पर-उपकार प्रिय दानी तथा।
भागे न रण से विमुख हो है कर्म क्षत्री सर्वथा॥ ४३॥
वर वैश्य का व्यापार, खेती धेनु-पालन कर्म है।
करना सभी को दित्य सेवा शुद्र जन का धर्म है॥ ४४॥
इस भांति अपने कर्म में रह सिद्धि पाते हैं सभी।
हे कर्म से यह सिद्धि मिलती किस तरह सुनलो अभी॥ ४५॥

निज-निज कर्मों से किस प्रकार सिद्धि मिलती है भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी आगे कहते है –

सब जीव का जो जनक है जिससे जगत यह व्याप्त है।
सब पूण उसको कर्म से निज सिद्धि होती प्राप्त है॥ ४६॥

है धर्म गुरु अपना सदा पर धर्म से उत्तम कहीं।
करता स्वाभाविक कर्म जो वह पाप में पड़ता नहीं॥ ४७॥
यदि हो सदोष स्वकर्म फिर भी मनुज मत त्यागे कभी।
धूमाग्नि सम है कर्म आवृतदोष से क्यों की सभी॥ ४८॥
है आत्मजित आसक्ति विरहित मनुज जो निस्पृह तथा।
यह सांख्य द्वारा विश्व में है सिद्धि पाता सर्वथा॥ ४९॥
है आत्मशुद्धि सुसिद्ध पाता पुरुष हे अर्जुन! यथा।
मुझसे सुनो वह भी अभी समझा के कहता हूँ कथा॥ ५०॥
एकान्त वासी शुद्ध घी प्रभु ध्यान में लव लीन हो।
कर अल्प भोजन विषय विरहित रागद्वेष विहीनहो॥ ५१॥
हे पार्थ! मन, वाणी सनेही में सुदृढ़ अति त्याग हो।
हो स्ववश अंतःकरण और शब्दादि विषयविरागहो॥ ५२॥
जो काम, क्रोध, घमण्ड, ममता हीन होता सर्वदा।
वह लीन होने योग्य है पर ब्रह्म में मानव सदा॥ ५३॥
जो नर किसी भी वस्तु हित कुछ शोक ना चिंता करे।
समभाव सब भूतों में रख वह पुरुष भक्ति परावरे॥ ५४॥
इस भक्ति के द्वारा पुरुष मम तत्व को है समझता।
जिससे वो मुझमें लीन हो मेरे गुणों को पकड़ता॥ ५५॥
है कर्म योगी लीन मुझमें कर्म यदि करता सदा।
फिर भी सनातन परम पद है प्राप्त करता सर्वदा॥ ५६॥
हे पार्थ! अपना कर्म मुझमें कर समर्पण प्रेम से।
वन कर्मयोगी फल रहित दो चित्त मुझमें क्षेम से॥ ५७॥
इस भाँति मुझमें चित्तदे भव–सिंधु को तर जाओगे।
वरना सुनो अभिमानवश परमार्थ से गिर जाओगे॥ ५८॥
अभिमानवश कहते हो जो करना नहीं संग्राम है।
लग जाओगे पर युद्ध में क्षत्री–प्रकृति–परिणाम है॥ ५९॥

हो चाहते तुम मोह वश जिस कर्म को करना नहीं।
निजपूर्व कर्म स्वभाव से उसको करोगे तुम यहीं॥ ६०॥
इस देह रूपी यन्त्र पर आरुढ़ प्राणी को सदा।
हूँ कर्म के अनुसार माया से भ्रमता सर्वदा॥ ६१॥
हे पार्थ! इस कारण शरण परमात्मा की तुम लहो।
उसकी कृपा से शांत अविनाशा परमपद को गहो॥ ६२॥
तुम भेद मय इस ज्ञान पर पहले तनिक सोचो गुनो।
फिर चाहते हो जो करो यह बात तो मेरी सुनो॥ ६३॥

इतना कहने पर भी अर्जुन का कुछ उत्तर न मिलने पर भगवान श्री कृष्ण जी फिर बोले –

अति गोपनीय रहस्य मय मेरे वचन को फिर सुनो।
तब हेतु हितकर वचन अर्जुन कह रहा हूँ प्रिय गुनो॥ ६४॥
तुम भक्ति, श्रद्धा, प्रेम से निष्काम प्रभु में लीन हो।
मेरे को होगे प्राप्त अर्जुन मित्र कर्म–प्रवीण हो॥ ६५॥
तज भर्म सारे मम शरण में पार्थ अब तुम लिप्त हो।
सब व्यर्थ है यह शोक करना पुन्य से तुम तृप्त हो॥ ६६॥
जो पार्थ तापस भक्त एवं श्रवण का इच्छुक न हो।
उसके समक्ष पवित्र गीता भूल कर भी मत कहो॥ ६७॥
जो प्रेम पूर्वक शास्त्र गीता को सुनावेगा कहीं।
वह भक्त मुझको प्राप्त होगा है मुझे संशय नहीं॥ ६८॥
वह श्रेष्ठ कर्ता कर्म प्रिय है जो कथा गीता कहे।
सबसे अधिक जगत में वह प्रिय बना मेरा रहे॥ ६९॥
यह जो करेंगे पाठ गीता शास्त्र का जन नित्य ही।
वे ज्ञान मुख द्वारा मेरी पूजा करेंगे सत्य हीं॥ ७०॥

जन जो करेंगे श्रवण बन निर्दोष श्रद्धा युक्त हो।
वे परमपद को प्राप्त होंगे पाप बन्धन मुक्त हो॥ ७१॥

इस प्रकार गीता का महात्म्य कह कर भगवान ने अर्जुन से पूछा –

क्या हो वचन मेरा सुना एकाग्र मन कुन्ती–तनय।
यह मोह नष्ट हुआ तुम्हारा क्या बताओ तो धनंजय॥ ७२॥

श्री कृष्ण भगवान के पूछने पर अर्जुन ने कहा –

अब तब कृपा से मोह मेरा नष्ट अच्युत हो गया।
पालन करूंगा आपका आदेश संशय खो गया॥ ७३॥

इसके उपरांत धृतराष्ट्र से संजय बोले– हे राजन!

अति रोमहर्षण और अद्‌भुत भेदमय अतिशय बना।
संवाद अर्जुन–कृष्ण का इस भाँति है मैंने सुना॥ ७४॥
इस योग को साक्षात् मैंने दिव्य दृष्टि महान से।
कहते हुये योगेश अच्युत से गुना है ध्यान से॥ ७५॥
अर्जुन तथा श्री कृष्ण के संवाद पर मैं क्या कहूँ।
कर याद इस सम्वाद को मैं मुदित बारम्बार हूँ॥ ७६॥
नृप और होता हर्ष वह हरि–रूप को कर ध्यान है।
आश्चर्य होता वह मुझे कर रूप याद महान है॥ ७७॥
श्री कृष्ण अर्जुन हैं जहाँ उस जगह पर जय नित्य है।
राजन् कहूँ क्या और मैं यह बात मेरी सत्य है॥ ७८॥

❁ अष्टादश अध्याय समाप्त ❁